राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

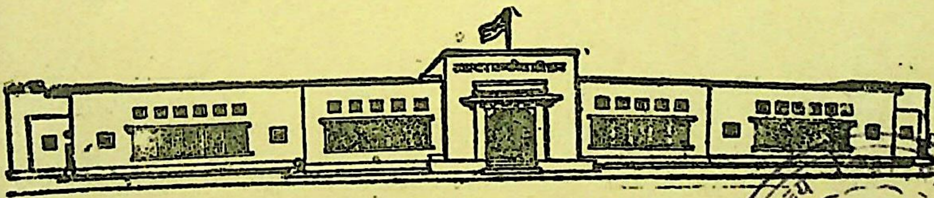
प्रधान सम्पादक – दशरथ शर्मा, एम.ए.,डी.लिट्.
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क ११९

श्रीविश्वनाथदेवप्रणीतम्

सङ्गीतरघुनन्दनम्

[व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकाख्यया स्वोपज्ञव्याख्यया संवलितम्]



प्रकाशक
राजस्थान - राज्य - संस्थापित
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)
RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR.
1974

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

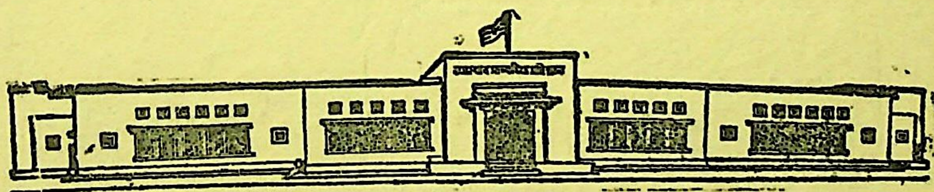
प्रधान सम्पादक – दशरथ शर्मा, एम.ए.,डी.लिट्.
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क ११९

श्रीविश्वनाथदेवप्रणीतम्

सङ्गीतरघुनन्दनम्

[व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकाख्यया स्वोपज्ञव्याख्यया संवलितम्]



प्रकाशक
राजस्थान - राज्य - संस्थापित
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)
RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR.
1974

श्रीविश्वनाथदेवप्रणीतम्

सङ्गीतरघुनन्दनम्

[व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकाख्यया स्वोपज्ञव्याख्यया संवलितम्]

सम्पादक

दशरथ शर्मा, एम.ए.,डी.लिट्.

भूतपूर्व इतिहासाचार्य

जोधपुर विश्वविद्यालय

जोधपुर

प्रकाशक

राजस्थानराज्य-संस्थापित

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०३० | भारतराष्ट्रीयशकाब्द १८९५ | ख्रिस्ताब्द १९७४
प्रथमावृत्ति १००० | | मूल्य रु० ५.२५

मुद्रक : समयसार प्रेस, जोधपुर

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान - राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यत: अखिल भारतीय तथा विशेषत: राजस्थान-प्रदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषा-निबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक
दशरथ शर्मा, एम.ए., डी.लिट्.
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

ग्रन्थाङ्क ११९

श्रीविश्वनाथदेवप्रणीतम्

सङ्गीतरघुनन्दनम्

[व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकाख्यया स्वोपज्ञव्याख्यया संवलितम्]

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर (राज०)
१९७४ ई०

प्रधानसम्पादकीय वक्तव्य

'सङ्गीतरघुनन्दनम्' को "राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला" के ११६ वें पुष्प के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। उससे पूर्व महाराजा श्रीविश्वनार्थांसह ने भगवद्भक्ति से ओतप्रोत अनेक ग्रन्थ सहृदय जनता के सम्मुख प्रस्तुत किये थे। किन्तु, देववाणी-प्रेमी जनता की मांग थी कि महाराजा संस्कृत में भी अपनी कृति और विचारों को उसके संमुख रखें। महाराजा से अब तक अनेक उत्तम ग्रन्थों की भेंट देवी सरस्वती को मिल चुकी थी। अब आवश्यकता थी एक उत्तमोत्तम काव्य की—ऐसे काव्य की जिसे वे भगवत्कृति तक मान सकें और उसे प्रस्तुत करते समय अपने आपको केवल साधनमात्र समझें।

काव्य की सहचरी 'व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिका" नाम की टीका को रचना भी स्वयं महाराजा विश्वनाथ ने की है। ग्रन्थ के अर्थ-गौरव को समझने के लिए यह विशेष रूप से पठनीय है।

दशरथ शर्मा
निदेशक

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान,
जोधपुर।
वसंत पञ्चमी, संवत् २०३०।

— विषयानुक्रम —

विषय :				पत्राणि

प्रास्ताविक

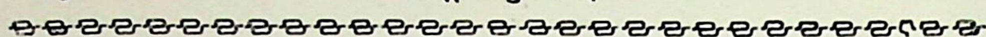
भारत में काव्यधारा अनेक रूप में प्रवाहित हुई है। उसने अनेक रसों का आश्रय लिया है और अपनी अनेकरूपा अभिव्यक्ति से उसे समृद्ध किया है। ऐसा कोई रस नहीं, कोई ऐसी भाषा नहीं, जिसमें भारतीय कवि की प्रतिभा न स्फुरित हुई हो; और न कोई ऐसा समुदाय ही है जो भारती के इस प्रसाद से वंचित रहा हो। राजा और रंक, ब्राह्मण और शूद्र, स्त्री और पुरुष, बालक और वृद्ध सभी पर इसकी कृपा हुई है।

हाँ, यह अवश्य है कि देश, काल और आश्रय के भेद से यह कृपा विभिन्न रूप धारण करती रही है। मध्यकाल में जब हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष जोरों पर था, इसने चन्द्र वरदाई, श्रीधर और पद्मनाभ के काव्य को ओजस्विता प्रदान की। मलिक मुहम्मद जायसी के हाथों यह सूफी रंग से रंजित हुई। अकबर बादशाह के शान्ति और समृद्धि के युग में यही भक्ति-प्रवणा हुई। भगवान् में अनुराग भक्ति का मुख्य लक्षण है, और भगवत्सान्निद्ध्य ही भक्त का परम पुरुषार्थ। उसे मोक्ष की भी कोई लालसा नहीं। किन्तु भक्त भगवान् को एक ही रूप में नहीं देखते। कोई उसे सखा, तो कोई उसे स्वामी, कोई उसे बालक, तो कोई उसका प्रेमी के रूप में दर्शन करता है। इसी दृष्टि-वैविध्य के कारण भक्तिभाव में भी विविधता हुई है। सूरदास, तुलसीदास और मीराँ तीनों ही भगवद्भक्त थे। सूरदास और मीराँ ने भगवान् को कृष्ण के रूप में देखा; तुलसीदास ने राम को परब्रह्म मानते हुए उनकी भक्ति की। किन्तु यह ध्यान रहे कि तुलसीदास ने राम के जिस रूप की अभिव्यक्ति की, वह परम्परा के अनुकूल थी; वह कोई नयी वस्तु नहीं। हजारों वर्ष पूर्व आदि कवि वाल्मीकि के सामने देवर्षि नारद ने उसे विवृत किया था।[1]

यही रामायणीय परम्परा प्राचीन रामकाव्यों और नाटकों में रक्षित है, चाहे लेखक कालिदास हो या परतर कोई अन्य कवि। योगवासिष्ठ और अध्यात्म-रामायण में भी राम का उदात्त स्वरूप प्रदर्शित है और यह उदात्त स्वरूप उस कोटि तक पहुँचता है जिसमें भक्त राम को केवल पुरुषोत्तम के रूप में ही नहीं, भगवान् के रूप में देखता है।

---

१. देखें परिशिष्ट—१।

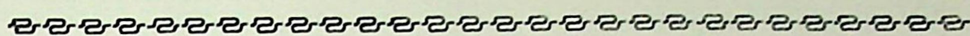


कृष्णपरक भक्तिधारा आरम्भ से ही राम-धारा से कुछ भिन्न थी। श्रीमद्भागवत के कृष्ण गोपीवल्लभ, केशि- कंस-निषूदन एवं कुब्जाप्रणयी हैं। गोपियों को जीव का प्रतीक मान कर कृष्णलीला को समझना सम्भव है, परन्तु प्राकृत पुरुष अधिकतर ऐसा नहीं करते; और जो स्वयं उस तथ्य के ज्ञाता हैं, उन्हें इस तत्व को समझाने की आवश्यकता ही क्या है ? उस प्रकृष्ट भक्ति से प्रभावित गौरांग महाप्रभु चैतन्य अपने पुंस्त्व को सर्वथा भूलकर कह उठते हैं—

"आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनात् मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नाऽपरः ॥

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में शृंगारिता अपने उत्कर्षबिन्दु पर पहुँची है। उसकी रासक्रीड़ा में राधा और सुशीलादि तेंतीस सखियाँ सम्मिलित हुई थीं। सुशीला और चन्द्रमुखी के साथ सोलह-सोलह हजार; कदम्बमाला और माधवी के साथ तेरह और ग्यारह; यमुना और कुन्ती के साथ चौदह और दश; जाह्नवी और पद्ममुखी के साथ नौ-नौ; सावित्री और पारिजाता के साथ पन्द्रह और दश; सुधामुखी और स्वयंप्रभा के साथ चौदह और सात हजार; सर्वमंगला के साथ सोलह और गौरीपद्मा के साथ चौदह; कालिका और कमला के साथ सोलह और तेरह; दुर्गा और सरस्वती के साथ सोलह और तेरह; भारती और अपर्णा के साथ दश और चौदह: रति और गंगा के साथ दश और चौदह; अम्बिका और सती के साथ सोलह और तेरह; नन्दिनी और सुन्दरी के पीछे चौदह और तेरह; कृष्णप्रिया और सुन्दरी के साथ सोलह-सोलह; और चम्पा एवं चन्दना के पीछे तेरह और सोलह हजार गोपियाँ आईं (श्रीकृष्ण-जन्मखण्ड, अध्याय २८)। इसके बाद का वर्णन अत्यन्त शृंगारपूर्ण है। सम्भव है कि ऐसे ही वर्णनों के आधार पर मध्यकालीन मन्दिरों की भित्तियों पर उत्कीर्ण अश्लील मूर्त्तियाँ बनी हों।

रीतिकाल में तो नख-शिख और शृंगारवर्णन की मानों बाढ ही आ गई। फिर रामकाव्य उससे किस तरह अछूता रहता ? तुलसी-काल में रचित भी अनेक ऐसे छोटे-मोटे ग्रन्थ हैं जिनमें इस नवीन धारा की छाप स्पष्ट रूप से वर्त्तमान है। उनके बाद के ग्रन्थों का तो कहना ही क्या है। इनकी संख्या तो इतनी अधिक है कि कुछ विद्वानों का मत है कि तुलसी अपने समकालीन भक्ति के क्षेत्र में शृंगारी रामभक्ति के एक अपवाद से प्रतीत

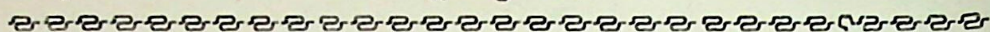


होते हैं । यदि इन ग्रन्थों का हमें विशेष ज्ञान नहीं है, तो इसका यही कारण हो सकता है कि इन सिद्धान्तों को गोपनीय रखा जाता था और आचार्यगण केवल योग्य एवं अधिकारी साधकों को ही इनका उपदेश देते थे । इसलिए यह साहित्य विपुल राशि में होता हुआ भी प्रकाशन के अभाव में जनसामान्य के समक्ष न आ सका ।

साम्प्रदायिक रामसाहित्य में यह माधुर्य-भक्ति की धारा पाँच नामों से अभिहित है—जानकीसम्प्रदाय, रहस्यसम्प्रदाय, रसिकसम्प्रदाय, जानकीवल्लभसम्प्रदाय और सियारामसम्प्रदाय । इनमें 'रसिकसम्प्रदाय' नाम का प्रचलन ही सर्वाधिक हुआ । इसका कारण यह दिया जाता है कि इस धारा के प्रवर्त्तक अग्रदास को इस धारा के अनुयायियों ने रसिक-नाम से ही अभिहित किया है । कृष्णभक्ति में प्रायः शृंगारी भक्तों को ही रसिक कहा गया है, किन्तु रामभक्ति में अन्य प्रकार के भक्तों के लिए भी रसिक-शब्द प्रयुक्त होता है। आचार्य बाल अली ने वात्सल्य, दास्य, सख्य और शृंगारी भाव से सीताराम की उपासना करने वालों को रसिक माना है और इन भक्तों में भी सखीभाव से भगवान् की उपासना करने वालों को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। फिर भी अपने भावसम्बन्ध के अनुसार ये एक दूसरे से परमस्नेहयुक्त व्यवहार करते थे। सखाभावना वाले सन्त रामसखे की तो स्पष्ट घोषणा थी कि सीता और राम के विवाह से निमिवंशी सब उनके साले थे ।

रसिकसाधना के प्रवर्त्तन का श्रेय ध्यानमञ्जरी आदि ग्रन्थों के रचयिता स्वामी अग्रदास को है। हिन्दीसाहित्य में भक्तिमार्ग के प्रथम लेखक नाभादास इन्हीं के शिष्य थे। अपनी माधुर्यभक्ति के ही कारण ये नाभा अली के नाम से भी प्रसिद्ध हैं । नाभाजी ने सीता-राम की चारुशीला और चन्द्रकला नाम की दो सखियों को मुख्य स्थान दिया है । आगे जाकर इन्हीं के नाम से रसिक-सम्प्रदाय की दो मुख्य शाखाएँ स्थापित हुईं ।

अकबर और जहाँगीर के समय भक्ति-सम्प्रदाय की रसिकधारा फलती-फूलती रही, किन्तु शाहजहाँ के समय से हिन्दुओं पर अत्याचार होने लगे और औरंगजेब जब गद्दी पर बैठा, तो हिन्दुओं की दशा और भी खराब हो गई । अयोध्या पर तो इनकी कठोर दृष्टि विशेष रूप से थी । इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिक संघर्ष का भी रामभक्तों को सामना करना पड़ा ।



मुगल-साम्राज्य के पतन के बाद हिन्दू किसी अंश तक जागृत हुए। दिल्ली के परवर्ती मुगल-शासकों और अवध के नबाबों का उनसे व्यवहार अच्छा था। मन्दिरों का जीर्णोद्धार और निर्माण हुआ और अखाड़ों की स्थापना हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में रसिक-आचार्य रामचरणदास जी के नेतृत्व में रसिकसम्प्रदाय का अत्यधिक प्रसार हुआ। पूर्वाचार्यों के समान इन्होंने भी कहा:—

> "सखि सखा अरु दास जो, भाव बिना नहिं होई।
> तीनों को अधिकार यह, भाव भावमय सोई॥"

कृष्णभक्ति का भी रामभक्ति पर प्रभाव इस समय विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इसी को ध्यान में रखते हुए डॉ० भगवतीप्रसादसिंह ने लिखा है— "दोनों माधुर्यप्रधान सम्प्रदायों में सखाओं और सखियों के भेद, यूथेश्वरियों की कल्पना एवं युगल-विलासलीलाओं के वर्णनों में प्राप्त एकरूपता से इसका समर्थन होता है। सखीभाव के उपासक सन्तों ने अपने आचार्यों को 'युगल सरकार' एवं उन षोडश मुख्य सखियों का अवतार माना है, जो सीताजी की बाल सखियाँ और महाराज जनक तथा उनके भाइयों की पुत्रियाँ थीं। वे अपने आत्म-स्वरूप को यूथेश्वरियों की बहिनों अथवा निमिवंशी कुमारियों से अभिन्न मानते हैं और सीताजी के साथ ही स्वयं को राम की परिणीता समझते हैं, किन्तु स्वामी से उनका सम्बन्ध सीधा न होकर सीताजी के माध्यम से होता है, कारण कि उनका सीता से अलग कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। दार्शनिक दृष्टि से वे सीताजी की अंशभूता तथा अंगभूता हैं अत एव जार, परकीया तथा सपत्नीभाव की कल्पना रामभक्ति की इस रागात्मिका धारा में न हो सकी।"

महाराजा विश्वनाथसिंह

इसी भक्ति-धारा के प्रमुख व्यक्तियों में महाराजा विश्वनाथसिंह की भी गणना की जा सकती है। महाराजा विश्वनाथसिंह रामभक्ति की इस रसिक-धारा के सहायकमात्र ही नहीं थे, प्रत्युत इनकी विधिपूर्वक दीक्षित साधकता के भी प्रमाण मिलते हैं। रसिकभक्ति का प्रकार एक नहीं है, अपि तु विभिन्न उपासकों ने इस धारा की विविध विधाओं का आश्रय लिया है—यह रसिक-साहित्यपरम्परा के अवेक्षण से स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः रसिकभक्ति के

आचार्यों की जीवन-गाथा के साथ उनकी भक्तिविधा भी विशिष्ट महत्त्व रखती है। वस्तुत: रसिक कवि स्वसम्मत भक्तिविधा से प्रेरित होकर तदनुकूल भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए काव्य को माध्यम बनाता है। किसी भी व्यक्ति की कृति-विशेष वह स्वच्छ आदर्श है जिसमें उसके व्यक्तित्व की प्रतिकृति स्पष्ट रूप में प्रतिबिम्बित होती है। अत: महाराजा विश्वनाथसिंह का जीवनपरिचय प्रस्तुत करते समय उनकी वैयक्तिक भक्तिविधा का अनुसन्धान हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। इनके विषय में कहा जाता है कि वे श्रीसीताराम की अष्टयाम-भावना सखीरूप में किया करते थे। मानव को प्रत्येक क्षेत्र में प्रारम्भिक प्रवेश करते समय गुरु की आवश्यकता रहती है। कुछ जन्मजात प्रतिभाओं के विषय में यह अपवाद भी हो सकता है: परन्तु गुरु का जीवन में अपरिहार्य महत्त्व होता है। महाराजा विश्वनाथसिंह को भी शृंगारी साधना के रहस्यों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता हुई और तदनुसार उन्होंने महात्मा प्रियादास से 'षडक्षर राममंत्र' का उपदेश ग्रहण किया था। इनके पुत्र महाराजा रघुराजसिंह ने इनकी सखीभावना से युक्त भक्ति एवं षडक्षर राममन्त्र की प्राप्ति के विषय में रामरसिकावली में कहा है—

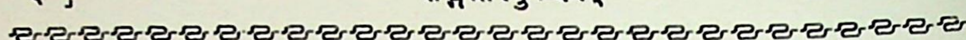
करें भावना ध्यानहिं माँहीं। सखीरूप सियरामहिं काहीं।
एक समय विशुनाथ को, स्वप्ने शंकर आय।
राम षडक्षर मन्त्र को, तेहि एकान्त ले जाय॥

विश्वनाथसिंह ने प्रारम्भ में रसिकभक्ति की सखीरूप विधा को अपनाया, परन्तु यह अनुश्रुति है कि एक बार वे चित्रकूट के नित्यरास में सखीरूप में सम्मिलित हुए थे और इसके बाद वे जीवनपर्यन्त स्वयं को दिव्यदम्पती का पार्षद मानकर उनकी उपासना में तल्लीन हो गये। जैसा कि—

आयो पुनि रीवाँ नगर, राम रंग महँ छाकि।
पार्षद वपु मानत निजै, रहन लगो प्रभु ताकि॥

उस समय से कवि की रासलीला में बहुत श्रद्धा हो गई और वे राम का सर्वत्र 'रासबिहारी' के रूप में दर्शन करने लगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'संगीतरघुनन्दन' में हमें सर्वत्र रसिक राम के रसमय चरित्र के दर्शन होते हैं। वास्तव में रासविहारी राम के रसमय चरित्र में रमण करना ही कवि को अभिप्रेत है। यथा—



यदधिकरति रसपतिरपि कुरुते पश्यन्ननिशनिवासम् ।
विश्वनाथनाथोऽपि ससीतस्तनुते रासविलासम् ।।४।। (द्वि० सर्ग)

प्रस्तुत श्लोक के उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि के राम सीता के साथ रासविलास में रात-दिन तल्लीन हैं: रसपति शृंगार का वहाँ सदैव आवास है । कवि ने राम को 'विश्वनाथनाथ' पद से सम्बोधित किया है और यह पद कवि के दास्यभाव (सेवकभाव) की ओर इंगित करता है ।

संगीतरघुनन्दन के प्राय: प्रत्येक सर्ग के अन्त में कवि ने 'श्रीरामचन्द्र कृपापात्राधिकारी' शब्द प्रयुक्त कर भी राम के प्रति अपने दास्यभाव को अभिव्यक्त किया है । अत: इस काव्य में कवि की भक्तिविधा सखीरूप या अन्य प्रकार की नहीं कही जा सकती । कवि ने सेवकभाव के माध्यम से राम के अतिरसिक स्वरूप को प्रस्तुत करने का भरसक प्रयत्न किया है । टीका में भी यत्र-तत्र कवि की 'तेन च श्रीरघुनन्दनस्यातिरसिकत्वमिति', इत्यादि उक्तियों द्वारा यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है ।

'संगीतरघुनन्दन' की विशिष्टता

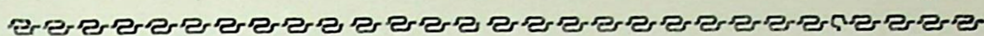
प्रस्तुत रचना से पूर्व कवि ने संस्कृत में कृतियाँ नहीं लिखी थीं : 'रामरसिकावली' के अनुसार संगीतरघुनन्दन ही उनका संस्कृत में रचित आद्य महाकाव्य है और उन्हें संस्कृत-कृति के निर्माण के लिए किस प्रकार प्रेरणा प्राप्त हुई, उसका भी इसमें उल्लेख किया गया है:—

स्वप्न मांहि प्रभु शासन दीन्हों । क्यों नहि ग्रन्थ संस्कृत कीन्हों ।।
तब संगीतरघुनन्दन ग्रन्था । रच्यो राम-सिया-रासु-सुपन्था ।।
बहुरि राम आह्निक निर्मण्यो । निशि दिन चरित राम जो ठान्यो ।।

वस्तुत: महाराजा विश्वनाथसिंह की काव्य प्रतिभा विलक्षण है; उन्होंने विविध प्रकार के काव्यों की रचना की है । यद्यपि कवि की समस्त रचनाओं की निश्चित संख्या का उल्लेख तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि इस पर पूर्ण शोध न की जावे, फिर भी उपलब्ध जानकारी के अनुसार महाराजा विश्वनाथसिंह ने पचास से भी अधिक काव्य एवं काव्येतर ग्रन्थों[1] का प्रणयन कर अपनी उत्कृष्ट कवित्वशक्ति का परिचय दिया है, साथही संगीतप्रधान

---

१ देखें परिशिष्ट-२ ।



प्रस्तुत काव्य की रचना कर उन्होंने अपनी सङ्गीतशास्त्र की विशिष्ट मर्मज्ञता का भी प्रदर्शन किया है। एक शासक द्वारा ऐसी विलक्षण काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन उसका विशिष्ट भूषण है। यह भारतीय संस्कृति की अद्वितीय परम्परा है कि यहां शासक कवित्वशक्ति एवं विद्वत्ता से सम्पन्न होते थे। जो स्वयं कवि न होते थे, वे कवियों का हृदय से आदर करते थे एवं उनको संरक्षण भी प्रदान करते थे। अतः महाराजा विश्वनाथसिंह एवं भोजादि केवल राजनीतिप्रवण कुशल शासक ही नहीं थे, प्रत्युत अपनी निसर्गसिद्ध कवित्व-शक्ति के लिए प्रख्यात हैं।

कवि और उनके गुरु प्रियादास

रामभक्ति और साहित्यप्रेम की विशिष्ट परम्परा के लिए रीवाँ-राजवंश प्रसिद्ध है। महाराजा विश्वनाथसिंहजू देव का जन्म इसी ऐतिहासिक वंश में चैत्र शुक्ल १४ संवत् १८४३ (१७८६ ई०) में हुआ था। इनके पिता महाराजा जयसिंह कवि होने के साथ ही अनन्य साहित्यानुरागी भी थे। पितृगुणानुरूपता को यदि ध्यान में रखा जाए तो महाराजा विश्वनाथसिंह अपने पिता की तरह कुशल प्रशासक ही नहीं, कवि के रूप में भी उत्कृष्ट कवि भी थे। यह उनकी राजवंशपरम्परा की समुन्नत एवं सुसंस्कृत दशा का बहुत अच्छा प्रमाण है। महाराजा विश्वनाथसिंह के जन्म के विषय में इनके पुत्र रघुराजसिंह ने कहा भी है—

> लियो जन्म मो पितु विशुनाथा।
> रीवां नगर महामुदगाथा ॥

महाराजा विश्वनाथसिंह के पिता की साहित्यसाधना के विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त है, किन्तु अन्य विषयों की अपेक्षा इसका विस्तृत विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं है। इनके पिता का नाम जयसिंहदेव ही था, इस बात की पुष्टि विश्वनाथसिंह के प्रस्तुत ग्रन्थ से भी हो जाती है। यथा—

> विन्ध्ये रिपुगजसिंहो जयसिंहो राजसिंहोऽस्ति।
> तनुते तस्य तनूजो ग्रन्थं संगीतरघुनन्दनाख्यम् ॥ (प्रथम सर्ग)

कवि ने कई ग्रन्थों में हरिरूप प्रियादासगुरु अथवा प्रियादास नाम से अपने गुरु का उल्लेख किया है। प्रस्तुत काव्य में गुरुवन्दना करते हुए प्रियादास का उल्लेख इस प्रकार किया है—



सीतारामरहस्यं मां बोधयन्ति हृदम्बुजे ।
स्थितांस्तान् हरिरूपाञ्छ्रीप्रियादासगुरून् भजे ॥

(प्रथमसर्ग पृष्ठ-१)

जयति सच्चिदानन्दघनवरदवरसर्वगुणशालिशृंगाररसपालिमूर्त्तिः,
सर्वजनवत्सल प्रविगलितमत्सर-प्रेमपाथोधि-पुरुषार्थपूर्त्तिः ।
सर्वगत-सर्वमत-सर्ववन्दितचरण-सर्वशरणागतोद्धृतिविहारी,
गुरुरूपरघुवरः श्रीप्रियादास इह विश्वनाथान्तरे गीतकारी ॥५॥

(प्रथम सर्ग)

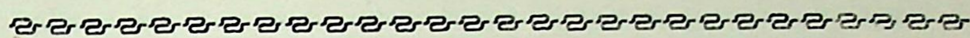
युवराज विश्वनाथसिंह ने इन्हीं से गुरुदीक्षा ग्रहण की । श्रीप्रियादास कौन थे, कहां के निवासी थे- आदि का सङ्केत न तो श्रीविश्वनाथसिंह ने ही किया है और न अन्यत्र भी प्राप्त होता है ; फिर भी यह कहा जासकता है कि श्रीप्रियादास नाभाकृत भक्तमाल के टीकाकार प्रियदास से भिन्न, उच्चकोटि के तत्कालीन महात्मा एवं धुरन्धर विद्वान् अवश्य रहे होंगे[1] ।

सम्पादन तथा प्रतिपरिचय

प्रस्तुत काव्य का यह सम्पादन दो हस्तलिखित प्रतियों (Manuscripts) पर आधारित है । एक प्रति दूसरी की अपेक्षा लम्बाई और चौड़ई में बड़ी है । दोनों प्रतियों में अन्तिम सर्ग की टीका के पश्चात् संवत्, तिथि एवं वार का निर्देश किया गया है, अतः इनके समय के विषय में ऐतिहासिक परिकल्पनाओं के लिए अवकाश एवं आवश्यकता नहीं रहती । बड़ी प्रति का समय संवत्-१८९१ है और छोटी का संवत् १९२६ है । पाठान्तरों को प्रदर्शित करने की सुविधा के लिए दोनों प्रतियों के नाम प्रकल्पित कर लिए गये हैं । बड़ी प्रति का नाम 'क' है और दूसरी का नाम 'ख' है । 'क' 'ख' दोनों प्रतियों के अन्त में समय-निर्देश क्रमशः इस प्रकार किया गया है—"आषाढ़ कृष्णा ७ संवत् १८९१; संवत् १९२६ माघ शुक्ला अष्टमी कुज ।"

---

१. यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ और रघुराजसिंह के अनुसार तो श्रीप्रियादास ही विश्वनाथ के गुरु थे किन्तु डॉ० भगवतीप्रसादसिंह ने 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' के अनुसार रसिकाचार्य रामचरणदासजी को इनके 'रसिकदीक्षागुरु' होने का भी उल्लेख किया है ।



'क' प्रति का माप ३६×१६ सेन्टीमीटर है। इस प्रति में मूलभाग एवं टीका के लिये लम्बा २८ से. मी. एवं चौड़ा १० से. मी. स्थान ग्रहण किया गया है। यह प्रति ६३ पत्रों में सम्पूर्ण होती है। प्रति के प्रत्येक पृष्ठ में पङ्क्तियों की न्यूनतम संख्या १० एवं अधिकतम १६ है तथा प्रत्येक पृष्ठ में शब्दों की संख्या लगभग १५० से २०० तक है। यह प्रति राजभवन पुस्तकशाला, अलवर (सन् १६०१ एवं संवत् १६५७) की मुद्रा से मुद्रित है। अलवर-महाराजा की पुस्तकशाला से इसकी प्राप्ति के विषय में इस प्रति के मुखपृष्ठ पर लिखित यह निर्देश भी प्रमाण-स्वरूप है—"संगीतरघुनन्दन पुस्तकशालायां महाराजाधिराज-महारावराजा-सवाई विनयसिंहवर्मणाम्"।

इसी प्रकार 'ख' प्रति का माप २८×१५ सेन्टीमीटर है। इस प्रति में मूल एवं टीका के लिये २३ से. मी. लम्बा और १०.३ से. मी. चौड़ा स्थान काम में लिया गया है। इस प्रति का समापन ६० पत्रों में होता है। प्रति के प्रत्येक पृष्ठ में अधिकतम १६ पङ्क्तियाँ और न्यूनतम ६ या १० पङ्क्तियाँ हैं। वैसे अन्तिम पृष्ठ पर ७ पङ्क्तियाँ लिखित हैं, परन्तु यह ग्रन्थ की समाप्ति के कारण है। इस प्रति के प्रत्येक पृष्ठ में शब्दों की संख्या लगभग २०० से २५० तक है। यह प्रति "श्रीविद्याभूषण-पुस्तकालय, जयपुर" की मुद्रा से अङ्कित है; साथ ही में यह राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जयपुर, शाखा की मुद्रा से भी संवलित है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान की जयपुर-शाखा ने इसे 'श्रीविद्याभूषण-पुस्तकालय' से प्राप्त किया है।

पाठप्रस्तुति की विधि—

दोनों हस्तलिपियों में पाठप्रस्तुति की विधि प्रायः एक जैसी है। प्रत्येक पृष्ठ के मध्यस्थल में मूलभाग प्रस्तुत किया गया है और मूल दोनों तरफ टीका से संवलित है। पाठप्रस्तुति में आधुनिक व्यवस्था का अभाव है। प्रायः एक पृष्ठ में ३, ४ या ५ श्लोकों को समूहरूप में प्रस्तुत किया गया है, न कि पृथक् रूप में। यदि कोई एक ही श्लोक दीर्घकाय है, तो उसे विवशतया दूसरे श्लोकों से असम्पृक्त रखा गया है। श्लोकों के ऊपर और नीचे दोनो तरफ टीका लिखी गई है। प्रत्येक श्लोक की टीका की समाप्ति के पश्चात् श्लोकसंख्या दी गई है जिससे विशेष काठिन्य नहीं होता। मूलभाग और टीका में कुछ स्थानावकाश भी रखा गया है: मूल भाग को टीका की अपेक्षा अधिक बड़े अक्षरो में लिखा गया है

जिससे सम्मिश्रण की समस्या नहीं आती । कहीं-कहीं स्थान न छोड़ते हुए मूल की पङ्क्ति से ही टीका का समारम्भ कर दिया गया है । प्रत्येक सर्ग की समाप्ति की सूचना के लिये मूल और टीका दोनों के नीचे पृथक्तया प्रस्तुत करने की विधि अपनाई गई है । श्लोकों के लेखन का ढंग विशेष सुव्यवस्थित नहीं है क्योंकि चरणविभाजन कर प्रस्तुत करने में पूरी अनवधानता बरती गई है; प्रायः गद्य की तरह उन्हें एक पङ्क्ति में ही लिख दिया गया है । टीका में प्रतिपाद्य के विशदीकरण के लिये अन्य ग्रन्थों के प्रस्तुत श्लोकों को भी व्यवस्थित रूप से नहीं लिखा गया है ।

उक्त दोनों प्रतियों में लिपि की दृष्टि से 'क' प्रति अधिक सुवाच्य एवं सुन्दर अक्षरों में लिखित है और द्वितीयसर्गपर्य्यन्त तो यह प्रति अतीव सुवाच्य है, जब कि 'ख' प्रति अवान्तरकाल में लिखित होने पर भी उसमें 'क' प्रति जैसी सुवाच्यता का अभाव है । यद्यपि दोनों पाण्डुलिपियों में पदों की पृथक्ता का विशेष ध्यान न रखते हुए यत्र-तत्र उन्हें अन्य पदों के साथ मिला दिया गया है, कहीं-कहीं पर सन्धिच्छेद की त्रुटियाँ भी प्राप्त होती हैं और संयुक्ताक्षर वाले पद कहीं-कहीं पर अस्पष्ट हो गये हैं फिर भी 'क' प्रति 'ख' प्रति से अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध एवं सुवाच्य है । क्योंकि ख. प्रति में य, प, म अक्षरों की जगह पर 'म' का ही प्रयोग अधिकतः पाया जाता है । श और स में भी बहुत कम अन्तर है अर्थात् श की जगह पर स का तथा स की जगह पर श का प्रयोग मिलता है जब कि द की जगह पर द्य और घ ही लिखा मिलता है; इसी प्रकार न, त, द, इ, द्र, दू आदि ऐसे भी अक्षर हैं जिनका निर्णय करना पाठक की सन्दर्भानुसार बुद्धि एवं विवेक पर निर्भर करता है ।

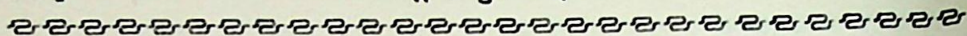
पाठान्तर एवं पाठवैषम्य—

दोनों प्रतियों के सम्यगवलोकन से यह तो स्पष्ट ही है कि 'ख' प्रति 'क' प्रति की अनुकृति नहीं है अतः इन में पाठान्तरों एवं पाठवैषम्य का पाया जाना स्वाभाविक है । जो पाठ 'क' प्रति में नहीं हैं वे 'ख' प्रति में उपलब्ध हैं । इसी प्रकार 'ख' प्रति में अनुपलब्ध पाठ 'क' प्रति में विद्यमान हैं । इस तथ्य की पुष्टि के लिये कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं । जैसे—क. प्रतिस्थित 'निःशेषच्युतचन्दनं' के स्थान पर ख. प्रति में 'निःशेषच्युतवदनं', 'मूर्च्छन्मोह०' की जगह 'मृच्छंन्मोह०' और 'ध्वनिभिर्ध्वनीनामुद्भवात्' के स्थान पर 'ध्वनि-

न्निर्ध्वनीनाद्भुवात्' आदि पाठ मिलते हैं। इसी प्रकार क. प्रति में विद्यमान प्रथम सर्ग के २५ वें श्लोक की व्याख्या के "अमितकोटिब्रह्माण्डवलितत्वे प्रमाणम्"……
……——…विराजो अधिपूरुष इति तस्मात्" इस षट्पक्त्यात्मक अंश के स्थान पर ख. प्रति में 'तस्येचवस्तत्कारणभूतं पूर्णब्रह्म तस्मात्" केवल यह अंश ही प्राप्त है। इसी प्रकार तृतीय सर्ग के प्रारम्भ में सर्वाधिक पाठवैषम्य उपलब्ध होता है। तृतीय सर्ग का मूल गद्यमय है । इस सर्ग के प्रारम्भ में "मालती-लवङ्गदल्लय………मागा इति" यह गद्यभाग केवल 'ख' प्रति में ही विद्यमान है जब कि इस गद्यभाग की टीका दोनों प्रतियों में उपलब्ध है; किन्तु इस गद्यभाग की टीका के पश्चात् "इति अस्याऽर्थोऽपि——……मता इति" यह सात स्वरों की विस्तृत व्याख्या केवल 'क' प्रति में ही प्राप्त है, ख. प्रति में नहीं। उक्त पाठ-वैषम्यों के अतिरिक्त भी अन्यस्थलों में अनेक पाठान्तर प्राप्त होते हैं, किन्तु यहाँ पर संक्षेप की दृष्टि से इतने थोड़े ही उदाहरण दिये गये हैं जिससे कि उपरिकथित तथ्य की सच्चाई का भान हो सके।

पाठ की सुग्राह्यता—

उपर्युक्त प्रतियों के विवेचन से यह तो सुस्पष्टतः कहा ही जा सकता है कि 'ख' प्रति की अपेक्षा 'क' प्रति लिपि की सुस्पष्टता सुवाच्यता तथा शुद्धता की दृष्टि से अधिक मान्य है एवं प्राचीनता तथा सुसङ्गत अधिकपाठोपलब्धि की दृष्टि से भी क. प्रति की सुग्राह्यता स्वतः स्पष्ट है। यही कारण है कि हमने इसी प्रति का पाठ आदर्शरूप में प्रस्तुत कर 'ख' प्रति के पाठान्तरों को पाद-टिप्पणी के रूप में नीचे उद्धृत किया है। हाँ, जहाँ दोनों ही प्रतियों के पाठ हमें अशुद्ध प्रतीत हुए हैं वहाँ शुद्ध पाठ ऊपर में देकर नीचे क. ख. प्रतियो के पाठ अङ्कित किये गये हैं। इसी प्रकार यदि ख. प्रति का पाठ क. प्रति से उपयुक्त प्रतीत हुआ है तो उसे ऊपर और क. प्रति का पाठ नीचे पादटिप्पणियों में अविकल रूप से उद्धृत कर दिया गया है। किन्तु, जैसा कि ऊपर सङ्केत किया गया है कि जिन अक्षरों का निर्णय करना पाठक की सन्दर्भानुसार बुद्धि एवं विवेक पर निर्भर करता है, ऐसी स्थिति वाले पाठान्तरों को अधिकतर लिपिकर्त्ता की स्वाभाविक लिपि समझकर बाहुल्यभय से यहाँ पर स्थान देना समुचित नहीं समझा गया है।



आभारदर्शन—

अन्त में इस कार्य की सम्पन्नता के लिये अनेक विद्वानों को धन्यवाद देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० फतहसिंह ने मुझे यह काम सौंपने की कृपा की थी। समय-समय पर इसके बारे में पूछते भी रहे। प्रेस कॉपी तैयार करने में श्रीगणेशीलाल सुथार से मुझे सहायता मिली जिसके लिये वे धन्यवादार्ह हैं। श्रीलक्ष्मीनारायण गोस्वामी ने प्रतियों के शुद्ध पाठ के विषय में मेरे से विमर्श किया है। रीवां-नरेश श्रीमार्त्तण्डसिंहजी ने 'सङ्गीतरघुनन्दन' के रचयिता अपने पूर्वज श्रीविश्वनाथसिंहजी के विषय में कुछ सूचनाएँ दी हैं। उनके लिए भी मैं कृतज्ञ हूँ। प्रतिष्ठान ने इस ग्रन्थ की हस्त-लिखित प्रतियाँ मुझे दीं। अन्य प्रकार से भी उसके अधिकारियों से मुझे अच्छा सहयोग मिला है। प्रतिष्ठान के प्रथम निदेशक पुरातत्वाचार्य मुनि श्रीजिन-विजयजी को हम विशेष रूप से धन्यवाद देते हैं जिनके प्रयत्न से मागधी, अर्धमागधी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और राजस्थानी का यह सुन्दर संग्रह यहाँ एकत्रित हुआ है।

आशा है कि सभी काव्य एवं संगीतप्रेमी विज्ञजन इस मुद्रित प्रति में प्रेस-दोष एवं दृष्टिदोषवश रही हुई त्रुटियों को 'समादधति सज्जनाः' की दृष्टि से सुधारते हुए प्रस्तुत काव्यरस का आनन्द उठाएंगे।

दशरथ शर्मा

१७ सितम्बर, १९७३
राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान,
जोधपुर

सर्गात्मक समालोचन

संस्कृतग्रन्थों में महाराजा विश्वनाथसिंह द्वारा विरचित 'संगीतरघुनन्दन' काव्य की प्रेरणा संभवत: गीतगोविन्द से मिली हो। कवि ने १६ सर्गों में इस रामकाव्य की सर्जना की है। इस काव्य के सभी सर्ग विस्तार की दृष्टि से समान नहीं हैं। कुछ लघुकाय हैं, तो कुछ दीर्घकाय भी। जिस प्रकार कवि द्वारा विरचित 'आनन्दरामायण' नामक नाटक रामभक्ति के रसिक साहित्य का एक रत्न है, उसी प्रकार 'संगीतरघुनंदन' भी।

कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'श्रीमते रामानुजाय नमः' इस नमस्कारोक्ति के पश्चात् ७ श्लोकों में श्रीराम, निमिराजपुत्री एवं रासेश्वरी सीता, भगवती शारदा, गणनायक, गुरु श्रीप्रियादास एवं भगवान् शंकर की क्रमशः वन्दना प्रस्तुत की है। यद्यपि काव्यप्रकाश में उत्तम—मध्यम—अधम भेद से काव्य के ३ भेद किये गए हैं; और इन से तथा अन्य अनेक काव्यों से रचयिता परिचित हैं, तो भी इस काव्य को उन्होंने परमोत्तम माना है। इस सम्बन्ध में कवि का कहना है कि—

'तथाप्यत्र प्रतिश्लोकं ध्वनिभिर्ध्वनीनामुद्भवात् परमोत्तमत्वमिति'।[1]

अर्थात् इस काव्य के प्रत्येक श्लोक में ध्वनियों के द्वारा अन्य अनेक ध्वनियों का उद्भव होता है अतः यह काव्य परमोत्तम है। इसकी सम्पुष्टि में 'अलङ्कार-कौस्तुभ' का लक्षण भी प्रस्तुत किया है—

'ध्वनेर्ध्वन्यन्तरोद्गारे तदेव ह्युत्तमोत्तमत्वम्' इति।[2]

इसके लिए दो कारण हैं, एक तो काव्य का विषय और दूसरा कवि की यह मान्यता कि यह काव्य भगवान् की ही कृति है। वे कहते हैं—

"मन्दस्य मम कथमीदृशग्रन्थकरणसामर्थ्यं, रघुनन्दन एव मदन्तः प्रविश्य निजं चरितमुच्चरितवान् अतस्तत्कृतस्य ग्रन्थस्य प्रशंसा कृता।[3]

---

१. संगीतरघुनन्दन—व्याख्या, पृष्ठ २। २. संगीतरघुनन्दन—व्याख्या, पृष्ठ २।
३. संगीतरघुनन्दन—व्याख्या, पृष्ठ-३।



अर्थात् मुझ मन्द में ऐसे ग्रन्थ की रचना की शक्ति कहाँ ? स्वयं भगवान् राम ने ही मेरे अन्तःकरण में प्रवेश कर अपने चरित का उच्चारण किया है। अतः उनके द्वारा रचित ग्रन्थ राम के प्रति समर्पण की अतिशयता का सूचक है और साथ ही यह आत्मश्लाघा के विषय में उत्थापित शंका को भी निरस्त कर देता है ।

प्रथम सर्ग एक प्रकार से मंगलाचरण-मात्र है। इस सर्ग में कहीं अवधेश राम की स्तुति है, तो कहीं रासेश्वरी सीता के प्रति निवेदन। कहीं भगवान् शंकर की वन्दना है, तो कहीं विघ्नविनाशन गणनायक की। कहीं गुरुवर के चरणों में प्रणति है, तो कहीं भगवती शारदा की संस्तुति प्रस्तुत है। श्रीरामचरितवर्णन में अनेकशः विघ्नविनाशक होने के कारण महावीर हनुमान् की स्तुति करना भी नितान्त उचित समझा गया है । इसके पश्चात् कवि ने मीनसुरूप, कमठसुरूप, शूकररूप, नरहरिरूप, वामनरूप, कपिलसुरूप, हलधर-रूप, कृष्णसुरूप, तापसरूप, वरहरिरूप, भृगुवररूप, मोहिनीरूप, बुद्धसुरूप, कल्किसुरूप, वैद्यसुरूप, यज्ञसुरूप, हयगलसुरूप, पृथुनृपरूप, ऋषभरूप, नारदरूप, शुकपितृरूप, हंससुरूप, बालसुरूप, इत्यादि विविध दीनोद्धारक रूपों में राम की अत्यन्त श्रद्धापूर्वक स्तुति प्रस्तुत कर अपने काव्य की सफलता एवं प्रेमलक्षणा भक्ति के वरदान की प्राप्ति के लिए मंगलाचरण किया है। कवि ने स्वोपज्ञ 'व्यंग्यार्थचन्द्रिका' में यह भी उद्घोषित किया है कि इनके अतिरिक्त जो अन्य अवशिष्ट अवतार हैं, उनको राम ने ग्रहण कर इस भूतल के विभिन्न विघ्नों का विनाश किया है। उपर्युक्त विभिन्न अवतारों के रूप में राम के वर्णन का कवि ने पद्मपुराण, वाल्मीकीय रामायण, शिवसंहिता आदि शास्त्रों के उद्धरणों द्वारा समर्थन भी किया है। इतना ही नहीं, 'देवानां पूरयोध्या' इत्यादिक श्रुति को भी उद्धृत किया है । इस प्रकार कवि ने अपनी नवनवोन्मेष-शालिनी प्रज्ञा के बल से राम की विविध प्रकार से स्तुति कर राम के प्रति अपनी अनन्य भक्ति को प्रदर्शित किया है ।

काव्य का वास्तविक आरम्भ तो दूसरे सर्ग से है जैसा कि कवि ने स्वयं द्वितीय सर्ग की टीका के प्रारम्भ में लिखा है—

"एवं मंगलाचरणं विधाय संगीतरघुनन्दनं काव्यं प्रकटयति ।"

अर्थात्—इस प्रकार मंगलाचरण का विधान कर संगीतरघुनन्दन-काव्य

को प्रकट करता है । इस सर्ग में रामरासक्रीडा का वर्णन करते समय कवि ने 'गीतगोविन्द' का अनुसरण कर अनुप्रासच्छटा का भी प्रदर्शन किया है । यथा—

मलयजलेपितललितकलेवरवलितवेणुवनमाली ।
चलदलकालिविलोकनपुलकितसकलालीगणशाली ।।७।।

इसी प्रकार गीतगोविन्द की उत्कृष्ट अनुप्रासच्छटा अवलोकनीय है—

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ।।

गीतगोविन्द में सर्वत्र अनुप्रासच्छटा में कोमलकान्तपदावली प्रयुक्त हुई है, परन्तु संगीतरघुनंदन में अनुप्रासच्छटा की उतनी उत्कृष्टता नहीं है ।

कीरकेकिकोकिलकोलाहलऋतुकुलललितविलासे ।
कुरबकबकुलकेतकीकैरवकुन्दकदम्बविकासे ।।२।।

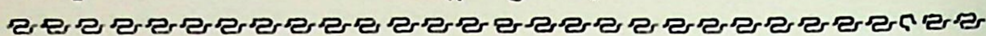
यद्यपि गीतगोविन्द की-सी अनुप्रासच्छटा की मधुरिमा एवं कोमलकान्त पदावली यहाँ नहीं है, तो भी रासलीला में तल्लीन सखियों की सम्मिलित मधुर गानध्वनि को इन विविध उपवन-पक्षियों के समस्वर के समान वर्णित करना सुमनोज्ञ कल्पना है । सीतारामसहित रासलीला करती हुईं सखियों की विविध रासक्रीडाओं को भी सुन्दर रूप में उपस्थित किया है—

गायति काचन नृत्यति काचन,
रमयति काचन रामम् ।
काऽपि च नृत्यति काऽपि च घटयति,
काऽपि च पश्यति कामम् ।।४।।

वस्तुतः इस सर्ग का वर्णन पाठक के समक्ष रासक्रीडा का शब्दचित्र-सा उपस्थित कर देता है ।

तृतीय सर्ग में वसन्तरास का वर्णन किया गया है । इस सर्ग में 'होलाखेला' शब्द के लिए प्रचलित लौकिक शब्द 'होली' का 'होरीति लोकप्रसिद्धा' द्वारा निर्देश किया गया है । इसी प्रकार साभ्रकारुण चूर्ण एवं नारंगफलाकार लाक्षापात्र के लिए प्रचलित लौकिक शब्द अबीर और 'कुमकुम' क्रमशः प्रयुक्त किये गये हैं । उन्नीसवीं शताब्दी की होली का यह अच्छा सजीव वर्णन है ।

चतुर्थ सर्ग में सीता के समाधिस्थ होकर रासविलास का आनन्द



लेने के लिए अन्तर्हित होने पर सीता के विरह में राम की करुण स्थिति का अत्यन्त हृदयहारी चित्रण प्रस्तुत है ।

रासविलाससमाधिसुखाय समन्तरधादस्मिन्किल काले ।
प्रललापेह पतिः प्राणप्रियतमे ! गता भवती क्व नु बाले ।।२।।

तव मुखनलिननिरीक्षणरहितो नयनमधुकरो मुदं न लभते,
अनलमलयानिलो गले मम माल्यं व्यालसाम्यमारभते ।।३।।

कवि ने विप्रलम्भशृंगार के चित्रण में अपनी काव्यकला का प्रदर्शन किया है । भगवान् राम के लिए हिमांशु चन्द्रमा अति शीतल एवं मन्द होने पर भी दिवसदीप सूर्य की तरह देहदाहक बन गया है । मल्ली, वल्ली, वासन्ती आदि लताओं के वृक्षों के साथ सानन्द श्लिष्ट होने पर भी सीता के अन्तर्धान के कारण राम को अन्तर्वह्नि पीडित करती है । सीता के नेत्रों के समान मनोरम कमल राम के लिए 'हृदयखनित्र' बन गया है । ऐसी विरहपीडितावस्था में राम सीता के प्रति करुण निवेदन करते हैं—

'मिल मिल मैथिलि ! मामव मित्रम्' ।।६।।

इस प्रकार सीता के अन्तर्धान से सम्बद्ध होने के कारण इस सर्ग का 'जानक्यन्तर्धान' नामकरण उचित है ।

पञ्चम सर्ग में सीता की शाटी (साड़ी), कचपाश आदि का अत्यन्त मनोरम वर्णन किया गया है । इसी प्रसंग में सीता के भाल पर शोभायमान नीलमणि की छविच्छटा का वर्णन कितना सुरम्य बन पड़ा है—

प्रभापुञ्जपरिभासितभाले लसति नीलमणिराजः ।
अर्द्धचन्द्रसिंहासनगत इव रसराजो विसभाजः ।।३।।

इस सर्ग में कामा और वसन्तिका सीता को लौटा लेने का प्रयत्न करती हैं । कवि की काव्यशैली के निरीक्षण के लिए सरलतम, किन्तु चित्ताकर्षक भाषा में प्रस्तुत दो-तीन श्लोकों को उद्धृत करना उचित होगा—

परमहंसपरजनको जनकः सर्वंसहैव जननी ।
रसधायकरघुनायकनायकप्राणसमा या रमणी ।।२।।

तस्या भाति नवीनं चरितं मच्चित्तेऽपि विचित्रम् ।
मिल मिल मनोमोहनं मोहिनि ! जहि जहि मानममित्रम् ।।३।।

मा कुरु मुनिमननं मम वचनं मानय मानय धीरे ।
विश्वनाथनाथं रघुनाथं कुरु कुरु करे गभीरे ।।४।।

पञ्चम सर्ग का नामकरण 'कामा-वसन्तिकागमन' उपयुक्त है ।

'चारुशीलाकृतमनुनयनं' शीर्षक इसी प्रकार षष्ठ सर्ग के विषय का निर्देश करता है । इसके कतिपय अवलोकनीय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

तं विना न सुखं तवाऽपि न चाऽन्यथा तव चिन्तनम् ।
विश्वनाथसुनाथचरितं वर्णितं कलिकृन्तनम् ।।४।।

प्रस्तुत सर्ग में कवि ने सूक्तिरूप में भी श्लोक निबद्ध किये हैं । यथा—

सेवयैव प्रसाद्यते कविता लता वनिता धनी ।
विश्वनाथसुनाथमिति वद गच्छ सम्नतिसाधनी ।।२।।

इस काव्य में यत्र-तत्र कवि के लिए 'राजा बहादुर' एवं रामचन्द्रकृपापात्राधिकारी' शब्दों का भी प्रयोग किया है । इनमें पहली पंक्ति कवि की राजपदवी है और दूसरी भगवान् रामचन्द्रपरक है ।

'जानकीसमागम' नामक **सप्तम सर्ग** में कवि ने राम द्वारा मानिनी सीता के प्रति विविध निवेदनपूर्ण वचन कहलाए हैं । राम सीता को मानविमोचन कर वचनामृतों से परिषेचन के लिए निवेदन करते हैं—

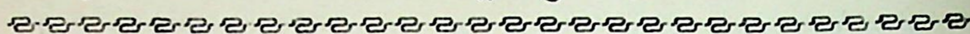
मानमवमुञ्च परिषिञ्च वचनामृतै-
रिति वदन्हरिरवतु विश्वनाथम् ।।४।।

पुनश्च—

वाञ्छितदे कलगीते सीते,
तव शृंगारविधावभिलाषं पूरय मयाऽनुगीते ।।१।।

अष्टम सर्ग में कवि ने सीता द्वारा शरीर पर धारण किये जाने वाले विविध आभूषणों की छटा का सुरम्य निरूपण किया है ।

'दोलावर्णन' नामक नवम सर्ग में दोलान्दोलन का वर्णन भी निखर उठा है—



लसति श्रीरघुनन्दनदोला सुतरां लोला ।

शृङ्गाररुचिमरकतमणिप्राकारसुषमामण्डिता ।
आदर्शसममणिमेदिनीप्रतिबिम्बवृन्दालम्बिता ।।२।।

दशम सर्ग में पृथक्-पृथक् श्लोकों में सीता के प्रत्येक अंग का सुन्दर उपमानों के साथ वर्णन प्रस्तुत किया गया है । अतः इस सर्ग का 'सर्वांगशोभावर्णन' नाम भी उचित प्रतीत होता है । कवि की सरस, सरल एवं प्रसादमयी शैली में निम्नलिखित प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण अवलोकनीय है—

चल दयिते वरसरयूतटमनुभाति ।
पिकरमणी शिखिरमणी यत्र च याति ।।१।।

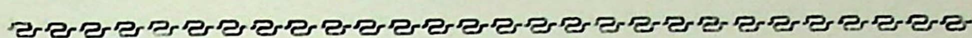
नितान्तमीक्षणेक्षणे क्षणे क्षणे विलक्षणा ।
अतुच्छगुच्छकक्षवृक्षलक्षलक्ष्यलक्षणा ।।२।।

इस सर्ग में कवि ने 'वारी' अर्थात् 'बाड़ी' के लिए 'पालिनी' एवं 'पायजामा' के लिए 'अधःकञ्चुक' शब्दों का प्रयोग किया है । इसी प्रकार अन्यत्र भी 'काछनी' एवं 'जामा' आदि वस्त्रों के लिए क्रमशः 'कटिबन्धन' एवं 'अरुण-कञ्चुक' शब्दों को प्रयुक्त किया है । सीता का सर्वांगवर्णन अतीव सुमनोहर बन पड़ा है । वास्तव में, 'यथा नाम तथा गुणः' इस उक्ति के अनुसार प्रस्तुत सर्ग का नाम सार्थक है । प्रत्येक अंग का वर्णन सहज, स्वाभाविक विशेषणों द्वारा प्रस्तुत किया गया है । यथा—सीता की नासिका शुकतुण्ड का भी अतिक्रमण कर जाती है—

नासिका नागमणिसहिता,
सफलशुकतुण्डजयविहता ।।१७।।

अपि च, सीता की स्मितमरीचि सुधानिधि की तरंग को विनिन्दित कर देती है । उसका चारु चिबुकतल लघु रसालफल की सुषमा से भी बढ़कर सुन्दर है । उपरि प्रस्तुत श्लोक जैसे ३४ लघुकाय श्लोकों में सारे अंगों व आभूषणों का हृदयहारी वर्णन किया गया है ।

एकादश सर्ग में जानकी एवं रघुनन्दन के गीत व नृत्य का वर्णन किया गया है । इस सर्ग के प्रारम्भ में ताम्बूलपेटी, मणिपतद्ग्राह, आतपत्र, प्रासून



स्नेहपात्र, स्वर्णपात्र आदि विभिन्न पात्रों को धारण करती हुई सखियों का चित्रण किया गया है । तदनन्तर सीता के चारुचमत्कारपूर्ण नृत्य का उल्लेख किया गया है । यथा—

पदयुगलेन लिखति शिखिकरिणी लघु नृत्यन्ती भावगामिनी ।
सुचमत्कृतियतिगतिचलचित्ता चिबुकं चुम्बति चारुकामिनी ।।२।।

अपि च, राम के चित्ताकर्षक रास का अवलोकन कीजिए—

नीराजयति मुकुटरुचिराजिभिरासामाननचन्द्रम् ।
करचलनेन चालयति चेतः पदगतेन कं मन्दम् ।।२।।

वस्तुतः सखियों के साथ सीता व राम के संगीतपूर्ण रास का अति मनोरम चित्रण किया गया है ।

द्वादश सर्ग में राम के विरह का मार्मिक वर्णन किया गया है । राम के अन्तर्हित हो जाने पर 'व्याकुलास्ता विचेरुः' अर्थात् सीतासहित सखियाँ मार्ग-मार्ग में राम को आकुलता से ढूँढती फिरती हैं । अशोकादि कामोद्दीपक पुष्पों को सम्बोधन करती हुईं सखियों एवं सीता की विरहपीडितावस्था का अत्यन्त करुण चित्रण भी द्रष्टव्य है—

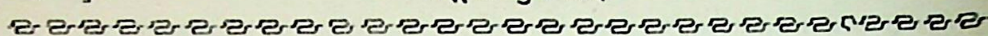
प्रमोदवनकुञ्जेषु मृगयन्त्यो रघूद्वहम् ।
मार्गे मार्गे रमण्यस्ताः पृच्छन्ति स्म लतातरून् ।।२।।

मन्मथबाणमथितमुद्व्यथितं खलु मे हृदयं,
कलयाऽशोकमशोक ! ।

शरणमितं वनितामण्डलमिह रक्षसि किं न स्तोक,
अहह बत रक्षसि किं न स्तोक ! ।।१।।

कुसुमनखेन विदीर्णं बहुशो भवता हृदयं,
खिद्यति विगतत्राम ! ।
रहितत्रपं कानने विलससि, विरहिपलाश पलाश ! ।।२।।

विश्वनाथचलनाथविरहित चलदल हृदयं,
भूषितविटपिसमाज ! ।
प्रियं निवेदय तव वनलीनं पाहि पाहि तरुराज ! ।।४।।



मिल नाथ अए !
हा हा नयनाञ्जन तापविभञ्जन रमणीरञ्जन ! तव विरहे।
सम्भवति कराला ज्वलनज्वाला सुमनोमाला किमु विषहे ॥१॥

यन्मुखचन्द्रचकोरौ नयने ते सततम् ।
सा सहते तव विरहमहो निर्दय ! विततम् ॥३॥

गतविग्रहवर्णा च्युतमुखवर्णाऽतिवधिरकर्णा तव प्रिया।
न रसायनरक्ष्या धिक्कृतभक्ष्या त्वयैव लक्ष्या गतक्रिया ॥५॥

अवितप्रेमाकर दीनदयाकर ! हृदयशयां स्मर भूमिशयाम् ।
अलमधिकविरत्या त्वमिहाऽऽगत्याऽनुपरतगत्या तनुहि दयाम् ॥१०॥

त्रयोदश सर्ग में अन्तर्हित राम के विरह से विह्वल सखीसमूह की राम के प्रादुर्भाव के कारण आनन्दातिरेकमयी स्थिति का सुरम्य चित्रण हुआ है। राम के दर्शनानन्द से उन सखियों के अंग इतने खिल उठे हैं कि विरहकाल में जिनसे कृशता के कारण आभूषण परिच्युत हो गये थे, उन्हीं पर अब वे आभूषण यत्नपूर्वक धारण करने पर भी शोभित नहीं होते। यथा—

या वियोगकृशतापरिच्युता भूषणालिर्निखिलाङ्गके पुनः ।
न स्म भाति परमोदमांसले यत्नतोऽपि परिधारिता मुहुः ॥३॥

रघुनंदन के आने पर सखियों की विभिन्न चेष्टाओं का वर्णन भी अवलोकनीय है—

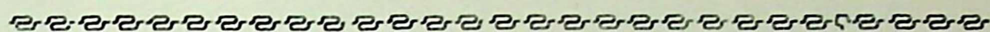
काऽपि चुचुम्ब सुरुचिरं चिबुकं चन्द्रमुखी ।
काचिदुवाच दैवदोषो मे त्वमकलुषी ॥१॥

काचित्परिरेभे पटुरमणं मोदवती ।
काचिदबध्नान्निजपतिवसने भीतिमती ॥२॥

काऽपि वीणया जगौ रमणगुणमतिह्लीदम् ।
अकृत भृकुटितर्ज्जनं काचन पतिभीदम् ॥३॥

काचिदासनेऽवदन्निषीद प्रिय ससुखम् ।
विश्वनाथनाथोऽसि कथय नः किं कलुषम् ॥४॥

अन्तर्धान का कारण बतलाते हुए राम कहते हैं कि पहले सीता ही अन्तर्हित हुई थी, अतः उसे अन्तर्धानजनित विरहपीडा का संवेदन करवाने के लिए वे भी अन्तर्हित हो गये। अन्ततः प्रिय के अपराधकथन का अनौचित्य बतलाते हुए



राम अपने-अपने अपराध की भी गुणपक्ष में गणना करने के लिए यह कह कर सरयू नदी की रमणीयता की ओर जानकी का ध्यानाकर्षण करते हैं:—

प्रिये पश्य सरयूरिह विलसति कोमलशैवलकमला ।
ललितकाकलीकलितखगालीसंकुलालिकुलकमला ।१।।

सरयूनदी की रमणीयता के बोधक अन्य श्लोक भी प्रस्तुत हैं:—

कुमुदवृन्दमकरन्दविशदबहुबिन्दुचारुचन्द्रकिता ।
अनिलसमाकुलकूललताकुलकुसुमावलिपरिकलिता ।।२।।

तव नाभीसुषमानुकरणकरललितावर्त्तविशाला ।
विश्वनाथमानसपरिषेवितसुमणितीर्थरुचिशाला ।।३।।

सरयू के आवर्त्तों की सीता की नाभि से समता प्रस्तुत कर उनकी लघुता और गम्भीरता को व्यक्त किया गया है । 'सुमणितीर्थरुचिशाला' इस पद से नदी के दोनों किनारों पर मणिजटित शिलाखण्डों की सुषमा की अभिव्यक्ति की गई है, अत एव रात्रि में तटों पर विहरण की अयोग्यता भी स्वतः अभिव्यक्त है ।

'सरयूतटविहारवर्णन' नामक चतुर्दश सर्ग अत्यन्त संक्षिप्त है । सखी-समुदाय के साथ राम जिस समय सरयू नदी में अवगाहन करने के लिए चलते हैं, तो उसका वर्णन करते हुए कवि कहते हैं:—

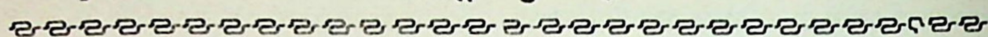
सहचरीसमुदायसमन्वितः शयसरोजगृहीतधरासुतः ।
सुखदसारववारि विगाहितुम् प्रचलति स्म ततो रघुनन्दनः ।।१।।

पुनश्च—

सरयूजले जानकीजानिः,
विहरति रमणीगणकृतरतिरिह,
सवधुसिंधुरुचिहानिः ।।१।।

जलावगाहनक्रीड़ा का कोई विस्तृत वर्णन प्रस्तुत नहीं किया गया है । सखियों से परितः आवृत राम की शोभा ४-५ श्लोकों में निरूपित है । यथा—

कुण्डल-मम-ललनालिमण्डितो घन इव चपलामालः ।
विश्वनाथनाथोऽतिकौतुकं कुरुते परमविशालः ।।४।।



पन्द्रहवां सर्ग स्नान के पश्चात् सीतासहित राम के आगमन से प्रारम्भ होता है—

उत्थाय रामो जनकात्मजायाः पाणिं गृहीत्वा परमादरेण ।
शुभ्राऽऽतपत्रेण विरोचमानो निकेतन-प्रांगणमाजगाम ॥२॥

तत्पश्चात् स्वर्णमयी वेदिका से युक्त, वह्निमण्डल, सूर्यमण्डल एवं चन्द्रमण्डल की शोभा से युक्त परम सुन्दर आगार का निरूपण किया गया है, जहाँ राम सदैव रासविधान में तल्लीन रहते हैं—

अथ निजपरमागारे विकसित-कमलालयाकारे ।
रामो रासविधानं मुदा सखीभिः समातनुते ॥१॥

प्रमुख सखियों का नामोल्लेख करते हुए कवि कहते हैं कि इसके पश्चात् सौ सखियों का मण्डल, उसके परितः दशशत सखिमण्डल, इस प्रकार लाख, दश लाख और करोड़ों की संख्या में सखियाँ दिग्विदिक् में विद्यमान हैं। अर्थात् इस रासविधान में राम करोड़ों सखियों द्वारा कुण्डलित हैं, परावृत हैं। इस सर्ग में न केवल प्रमुख सखियों का नामनिर्देश किया गया है, प्रत्युत उनकी कुण्डलाकार स्थिति का भी निरूपण प्रस्तुत है; अत एव प्रकृत सर्ग का 'सखी-स्थिति और संख्यावर्णन', जो यह नामकरण किया गया है, वह उचित ही है।

अन्तिम सर्ग १६वें में कवि ने इस ग्रन्थ के माहात्म्य को प्रदर्शित करते हुए 'अतिदुस्तरदुःखाकरभवसागरतारिन्' 'अमलयशःप्रसारिन्' 'भूतिविवर्द्धन' आदि विभिन्न समासबहुल विशेषणपदों द्वारा राम के चरणकमलों में प्रणति समर्पित करते हुए अधोलिखित मनोवाञ्छा के साथ इस काव्य की इतिश्री की है—

एषा माधुर्यधारा धरणितलगता विश्वनाथप्रचारा,
भास्वत्सन्तानतारा परिवृढविशदध्यानसन्धानसारा ।
पापौघोदंचदाराभवजलधिसमुत्तारणे नौरुदारा,
शृङ्गारैकप्रसारा जयति परगुणग्राहकस्वान्तकारा ॥

संगीतरघुनन्दन का प्रेरणास्रोत—इस काव्य के प्रेरणास्रोत के विषय में जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' का प्रारम्भ में भी उल्लेख किया गया है। प्रधान रूप से

इस कृति का प्रेरणास्रोत गीतगोविन्द रहा है और इस तथ्य को परिपुष्ट करने वाले प्रबल प्रमाण भी विद्यमान हैं। हो सकता है कि गौणरूप से कवि ने अन्य कृतियों से भी यत्किञ्चित् प्रेरणा ग्रहण की होगी। काव्यचारुत्व एवं कविकर्म-कुशलता की दृष्टि से इस काव्य को हम गीतगोविन्द की समकक्ष कोटि में नहीं रख सकते, तथापि इसे सर्वथा अनुकृति भी नहीं कह सकते, क्योंकि कवि ने यत्र-तत्र अपनी नैसर्गिक प्रतिभा का भी प्रदर्शन किया है। एक उत्कृष्ट काव्य का अनुकरण करना एवं उससे प्रेरणा ग्रहण करना काव्यजगत् में स्वाभाविक है। यह कोई दूषण नहीं है। हां, यदि अबुद्धिमत्ता के साथ अन्धानुकरण किया जाता है, तो वह दूषण अवश्य है। अन्यथा, पूर्ववर्त्ती श्रेष्ठकाव्य परवर्त्ती काव्यों के लिए प्रेरणास्रोत होते ही हैं।

जिस प्रकार जयदेव ने कृष्णरासक्रीडापरक उपकाव्य की रचना की है, उसी प्रकार कवि विश्वनाथसिंह ने रामरासक्रीडापरक संगीतरघुनन्दन की सर्जना की है। गीतगोविन्द के प्रेरणास्रोत होने की प्रामाणिकता इस काव्य के प्रथम सर्ग में ही सिद्ध हो जाती है, जहाँ कविवर विश्वनाथसिंह जयदेव की पद्धति का अनुसरण करते हुए अष्टपदियों द्वारा श्रीराम की स्तुति करते हैं। अपि च, काव्य का नामकरण भी 'गीतगोविन्द' के आधार पर किया गया है। 'गीत' के स्थान पर संगीत कर दिया गया है और गोविन्द के स्थान पर रघुनन्दन कर दिया गया है जो कि विषयभेद की दृष्टि से सर्वथा आवश्यक है। 'संगीत-रघुनन्दन' की अष्टपदियों में 'गीतगोविन्द' के अनुकरणसाम्य के कतिपय स्थल अवलोकनीय हैं—

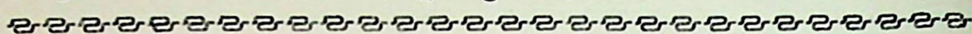
प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदम्,
विहितवहित्रचरित्रमखेदम्,
केशव धृतमीनशरीर जय जगदीश हरे॥ ध्रुवम् ॥१॥

(गीतगोविन्द)

इसी प्रकार 'संगीतरघुनन्दन' में भी—

नृपबोधदवेदक्षितिपालनकारी,
प्रलयपयोधिसलिल-संचारी,
श्रीरघुवर मीनसुरूप जय जगदीश पते ॥१॥

(संगीतरघु०)



पुनश्च—

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना,
शशिनि कलङ्ककलेव निमग्ना,
केशव धृतशूकररूप जय जगदीश हरे ।।३।। (गीतगोविन्द)
रदशिखरे धरणी तव लसति विशाला,
गिरिशगिरा विवधन घनमाला,
श्रीरघुवर शूकररूप जय ।।३।। (संगीतरघुनन्दन)

और भी—

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते,
दैत्यान्दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ।।
(गीतगोविन्द)

इसी प्रकार संगीतरघुनन्दन में भी राम की विविध लीलाओं से सम्बन्धित उदाहरण देखिए—

मीनाद्या दधते तनूर्दलयते दैत्यान् सतो रक्षते,
धर्मानाचरते स्मृती रचयतेऽधर्मं निराकुर्वते ।
भक्तान् भावयते यशो जनयते बाणान् धनुर्बिभ्रते,
साकेतप्रमदावने विहरते रामाय तुभ्यं नमः ।।१०।।

गीतगोविन्द के इस सर्ग में अष्टपदियों द्वारा कवि ने जिस क्रम से कृष्ण के विभिन्न रूपों का वर्णन किया है, कवि विश्वनाथसिंह ने भी संगीतरघुनन्दन में राम के उन रूपों का वर्णन उसी क्रम से प्रस्तुत किया है । किन्तु, विश्वनाथसिंह इतने रूपों से संतुष्ट न रहकर आगे राम के कुछ और रूपों का भी निरूपण करते हैं, जो कवि की मौलिकता का परिचायक है । गीतगोविन्द के आधार पर कवि ने श्रीराम के स्वरूप का ध्रुवपदों द्वारा भी निरूपण किया है ।

द्वितीय सर्ग में भी जयदेव की काव्य-कला के साम्य के उदाहरण प्राप्य हैं ।

काऽपि विलासविलोलविलोचनखेलनजनितमनोजम्,
काऽपि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले ।
श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति रामाम् ।।
(गीतगोविन्द)

संगीतरघुनन्दन में भी इसी तरह के उदाहरण हैं ।

गायति काचन नृत्यति काचन रमयति काचन रामम् ।
कापि च नृत्यति कापि च घटयति कापि च पटयति कामम् ।।

इतना होने पर भी रामसम्बन्धी रसिक काव्यों की परम्परा में कवि विश्वनाथसिंह की विशिष्ट देन है । कृष्णरासक्रीड़ापरक काव्यों की सुलभता एवं अनुकूलता सब को ग्राह्य है, परन्तु रामरासक्रीड़ापरक काव्यों का स्वरूप इतना विकसित व सर्वजनज्ञात नहीं है, क्योंकि राम का मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में ही प्रायशः चित्रण हुआ है । कृष्णसाहित्य की इस परम्परा का रामसाहित्य में भी निर्वाह करना कवि विश्वनाथ की अमूल्य देन है । कवि ने जयदेव के गीतगोविन्द से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी मौलिकता के द्वारा गीतगोविन्द की अपेक्षा इसे विस्तृत रूप दिया है अर्थात् सर्गों की संख्या अधिक है और कुछ सर्ग गीतगोविन्द की अपेक्षा नूतन भी हैं ।

जहाँ तक साहित्यिक कसौटी का प्रश्न है सब काव्य समकक्ष नहीं हो सकते, तथापि रामसाहित्य की मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में परम्परा के घन-पटल में रसिकशिरोमणि के रूप में परम्परा की विद्युत् उसकी शोभाधायक ही है । काव्य में रामसाहित्य के एक अविकसित स्वरूप के विकास में योगदान है, अतः यह दूषण न होकर भूषण ही है ।

काव्यविधाः—गीतगोविन्द के अवलोकन से इस काव्य की विधा का प्रश्न भी हल हो जाता है । अन्यथा विभ्रम की सी स्थिति हो जाती है कि यह महाकाव्य है या खण्डकाव्य, गीतिकाव्य है या दण्डक । वस्तुतः यह न तो महाकाव्य है और न खण्डकाव्य, न यह गीतिकाव्य है और न अन्य ही, अपितु गीतगोविन्द की भाँति यह भी एक 'उपकाव्य' है ।

अलङ्कारप्रयोगः—इस काव्य में प्रयुक्त विभिन्न अलङ्कारों के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं । प्रस्तुत काव्य में प्रयुक्त विविध अलङ्कारों के कारण कवि विश्वनाथसिंह के काव्यशास्त्रविषयक पाण्डित्य का आभास प्राप्त होता है । वस्तुस्थिति यह है कि प्रस्तुत कृति के आलोचन से विश्वनाथसिंह में कविजनोचित सहज प्रतिभा के साथ अलङ्कारशास्त्र का पाण्डित्य अधिकमात्रा में प्रतीत होता है । शब्दकोश की दृष्टि से वे धनपति कुबेर के समान अक्षय्य निधि-वाले हैं । इनके द्वारा प्रतिसर्ग में प्रयुक्त नूतन समृद्ध शब्दावली उनके श्रमसाध्य

गहन पाण्डित्य की परिचायिका है। प्रस्तुत काव्य में कवि द्वारा उपमा, रूपक, सहोक्ति-तद्गुण, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, सन्देह, काव्यलिङ्ग, श्लेषानुप्राणित रूपक आदि विभिन्न अलङ्कारों का प्रयोग किया गया है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. उपमा—

"प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते"।

उदाहरण— प्रचुरपरागपूरपरिपूरितकटिमितसलिलसुललिता।
मिलितमीनमीनांककेतुसमतुंगतरंगतरलिता ॥

२. रूपक—

तद्रूपकमभेदोयं उपमानोपमेययोः।

उदाहरण— हरिचन्दनघनसारस्पर्शो विरहशिखी।
दहति रश्मिभिस्तनुं दिनेशश्चन्द्रमिषी ॥ (दशम सर्ग)

३. सहोक्ति-अलङ्कार—

सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्।

उदाहरण— रघुनन्दनगुणगानाद्भुतप्रभावं जनकपुत्रीं च।
युगपद्विलोक्य ससुखं वसन्तिका संजगादेदम् ॥ (५ सर्ग)

४. काव्यलिङ्ग—

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता।

यथा— कापि मेघरमणीयरागतो वर्षात्वं दर्शयते।
नायकनयननवीनघनेन च सुखनीरं वर्षयते ॥५॥

५. प्रतीपालङ्कार—

आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धना ॥

यथा— दम्पतिच्छविसम्पतिवलितविभोत्पत्तिसुखेक्षणम्।
उत्तुंगतरलतरङ्गयुतगङ्गादिजलधिविलक्षणम् ॥ (नवम सर्ग)
बहुरङ्गमणिमयहंसकीरककपोतपोतकशोभिता।
सङ्कुलितकल्पलतादिरचना विबुधवनवद्द्योतिता ॥

६. उत्प्रेक्षा—

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

यथा— वरतारतोरणवलितवरणद्वारवारविमोचिता ।
मणिजटितहाटकमयकपाटोदारदीप्तिसमञ्चिता ।।३।।

समग्रतया, कविवर विश्वनाथसिंह की प्रतिभा बहुमुखी है, यह उनकी विविध रचनाओं से ही प्रमाणित हो जाता है। कवि ने अपनी प्रतिभा द्वारा हिन्दी व संस्कृत दोनों साहित्यिक क्षेत्रों में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। कवि विश्वनाथसिंह के साहित्यिक क्षेत्र में दो रूप हैं—एक कवि और दूसरा टीकाकार। इनके द्वारा रचित टीकाग्रन्थों की भूयसी संख्या है। संगीतरघुनन्दन काव्य में कविवर अपने दोनों रूपों में उपस्थित होते हैं। संगीतरघुनन्दन के मूलभाग के साथ-साथ कवि ने व्यंग्यार्थचन्द्रिका-नामक टीका द्वारा अपने प्रतिपाद्य को विशदरूपेण स्पष्ट कर पाठक की कल्पना के लिए अवकाश कम कर दिया है। संस्कृतसाहित्य में ऐसे कविवर विरले एवं अंगुलिगण्य ही हैं जिन्होंने अपनी मूल रचना के साथ-साथ उसकी टीका भी प्रस्तुत की हो। एक दृष्टिकोण से यह कवि के लिए भूषण स्वरूप है क्योंकि ऐसी टीका से सामान्य अध्येता उसे सहजतया समझ सकता है। अन्यथा सौभाग्य से यदि तत्तत्शास्त्रविज्ञ अधिकारी विद्वान् की मूल को सही रूप में समझाने वाली टीका मिल जाती है, तो उसका सहारा लिया जाता है। परन्तु ऐसे ग्रन्थ, जिन पर न तो मूल लेखक की टीका प्राप्त है और न अन्य प्रामाणिक विद्वान् की टीका उपलब्ध है, कठिन स्थलों को प्राथमिक अध्येता के लिए अधिकारी विद्वान् की सहायता के बिना उसे समझना एक दुष्कर कार्य हो जाता है। अतः संगीतरघुनन्दन की व्यंग्यार्थचन्द्रिकानामक टीका के लिए पाठकों की ऋणता सदैव बनी रहेगी।

प्रस्तुत काव्य की टीका में यत्र-तत्र 'श्रीमते रामानुजाय नमः' यह उक्ति प्राप्त होती है। जिससे प्रायः निश्चित है कि टीका का प्रतिलिपिक विशिष्टाद्वैत के प्रबल समर्थक श्री रामानुजाचार्य के भक्तवर्ग से कोई था।

कुछ और शब्द

मूल ग्रन्थ को हमने प्रस्तावना, समालोचन एवं अनेक परिशिष्टादि से भूषित किया है। कविरचित व्यङ्ग्यार्थकौमुदी-टीका भी ऐसे अनेक सन्दर्भों से कुछ कम शोभित न थी। टीका का अन्तिम श्लोक सुनते ही बनता है:—

एषा माधुर्य्यधारा धरणितलगता विश्वनाथप्रचारा,
भास्वतसन्तान-तारा-परिवृढविशदध्यानसन्धानसारा।
पापौघोदश्वदारा भवजलधिसमुत्तारणे नौरुदारा,
शृङ्गारैकप्रसारा जयति परमुखद्रावकस्वान्तकारा॥

फिर भी सुधार के लिये स्थान सदा रह ही जाता है। कुछ नये गंधों के संमिश्रण से कस्तूरिकामोद को जैसे एक नया मोड़ दिया जा सकता है, उसी तरह सङ्गीतरघुनन्दन को भी। गीतगोविन्द में गले की गीति अत्यन्त मोहक है। सङ्गीतरघुनन्दन में चरणचालन द्वारा उत्पन्न रणन श्रोता को मुग्ध करता है। साथ ही अलङ्कारो के सार्थक प्रयोग भी ध्येय हैं। सरयू का किनारा सजीव हो उठता है। एक नवीन जीवन उसे स्फुरित करता है। कहीं उसमें श्रीमद्भागवत की, तो कहीं, गीतगोविन्द की ध्वनि निकलती है।

ये तथ्य प्रायः सबको ज्ञात हैं। पाटन के स्वामी, चौलुक्य राजा संगीत के प्रेमी थे। पराजित होकर जब वे रीवां-प्रदेश में पहुंचे तो सरस्वती ने उनका साथ दिया। कहा जाता है कि तानसेन रीवां के दरबार में रहा था और श्रीरामचन्द्रसिंह भी अच्छे रामभक्त और संगीतप्रेमी थे। विश्वनाथ सदा अपने को श्रीरामचन्द्र-कृपा का अधिकारी लिखते हैं: इससे यह सम्भावना होती है कि विश्वनाथसिंह राम भक्त बन चुके थे। किसी अंश में यह भक्ति उन्हें अपने पिता जयसिंह से विरासत में मिली होगी और इसी कारण वे हिन्दी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। यह भी कहा जाता है कि ये षडक्षर राम-मंत्र के साधक थे। यह भी सम्भव है कि आगे जा कर इन्होंने भगवान् के निर्गुण-स्वरूप पर लिख कर उसे भी प्रकाशित किया हो। यह भी कहना ठीक हो सकता है कि यह विश्वनाथसिंह के आध्यात्मिक विकास की एक सीढ़ी थी। इन्होंने भगवान् के निर्गुण और सगुण इन दोनों रूपों की अनुभूति की होगी।

यह विकास की धारा लगातार चली और चल रही है और इसी के प्रभाव से बाघेल-वंश में श्री रघुराजसिंह, गुलाबसिंह, मार्तण्डसिंह आदि वीर एवं अध्यात्म-प्रेमी महाराजाओं की उत्पत्ति हुई है। श्रीविश्वनाथ का आनन्दरघुनन्दन नाटक यदि विश्वनाथसिंह की सबसे प्रसिद्ध कृति है तो संस्कृत सङ्गीतरघुनन्दन भी आकार में कुछ छोटा नहीं; अनेक रचनाओं से गुणतः बड़ा ही है। आशा है कि विद्वान् इसे समुचित प्रतिष्ठा प्रदान करेंगे।

—दशरथ शर्मा

श्रीविश्वनाथदेवप्रणीतम्

सङ्गीतरघुनन्दनम्

व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकाख्यया स्वोपज्ञव्याख्यया संवलितम् ।

प्रथमः सर्गः

[मङ्गलाचरणम्]

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

वन्दे तत्पदकमलं यस्य मकरन्दः पुनाति जगदखिलम् ।
उपलं परागलेशश्चेतनतां शीघ्रमानयति ॥१॥

राजेन्द्रनन्दनविलोचनचञ्चरीक—
संसेव्यमानवदनाम्बुरुहां सखीभिः ।
स्वीयप्रभाजितरमारुचिभिः परीतां,
रासेश्वरीं हृदि भजे निमिराजपुत्रीम् ॥२॥

अशेषाज्ञानतिमिरविध्वंसनदिवाकरम् ।
श्रीरामरासरसिकं जगत्प्राणसुतं नुमः ॥३॥

शारदाम्भोजवदनां शारदेन्दीवरेक्षणाम् ।
नमामि शारदान्देवीं शारदेन्दुकरप्रभाम् ॥४॥

सिन्दूरपूरादरुणाङ्कलाधरकलाधरम् ।
संध्याम्बरमिवावन्दे गणेश्वरमहं[1] वपुः ॥५॥

सीतारामरहस्यं मां बोधयन्ति हृदम्बुजे[2] ।
स्थितांस्तान्हरिरूपाञ्छ्रीप्रियादासगुरून् भजे ॥६॥

नत्वा गौरीशपादाब्जं टीका व्यंग्यार्थचन्द्रिका ।
श्रीरामरासरसिकविनोदाय विधीयते ॥७॥

---

१. ख. गणेश्वरमहा । २. क. हृदाम्बुजे ।

अस्य व्याख्येयग्रन्थस्य परमोत्तमत्वम्, यद्यपि काव्यप्रकाशे उत्तममध्यमाधम-भेदात्काव्यस्य त्रैविध्यमेवोक्तम् । तथा हि—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।
अताहशि गुणीभूतव्यंग्ये[1] व्यंग्यं[2] तु मध्यमम्[3] ।
शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् । इति ।

तदुदाहरणानि च—

निःशेषच्युतचन्दनं[4] स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे ।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥१॥

ग्रामतरुणं तरुण्या [5]नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥२॥

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा[6]-
[7]मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम[8]-
[9]द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥३॥

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्,
भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि[10] यम् ।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला,
निमीलिताक्षीव[11] भियामरावती[12] ॥४॥

तथाप्यत्र प्रतिश्लोकं ध्वनिभिर्ध्वनीनामुद्भवात्[13] परमोत्तमत्वमित्युक्तम्[14] । तदुक्तमलङ्कारकौस्तुभे—

'ध्वनेर्ध्वन्यन्तरोद्गारे तदेव ह्युत्तमोत्तमत्वम् । इति ।

अथ चमत्कृतरामायणादिभाषाग्रन्थेषु सर्वसिद्धान्तादिसंस्कृतग्रन्थेषु[15] च यथा मया व्यंग्यार्थो भावश्च रक्षितस्तथा न श्रूयतेऽत इदं सङ्गीतरघुनन्दननाम स्वल्पं

---

१. क. ०व्यंग्यं । २. क. व्यंग्ये । ३. क. मध्यम् । ४. क. वदनं । ५. क. नववजुल० ।
६. ख ०च्छातेतरौ वृच्छटा । ७. ख. मूच्छन्मोह—स्नानाह्निकाह्नाय चः ।
८. ख. ०दरिद्रद्रुमा । ९. ख. द्रोहद्रिक० । १०. ख. पदच्छयापि । ११. ख. निमिलितोक्षीव ।
१२. ख. त्रियामरावती । १३. ध्वनिन्त्रिर्ध्वनीनाङ्कुवात् । १४. ख. परमोत्तनत्त० ।
१५. ख. सर्वसिद्धांदि० ।

ग्रन्थमवगत्य ग्रन्थविस्तरभयादलङ्कारादिविवेचनमपहाय संक्षेपतो गूढमगूढमिति द्विविधं व्यंग्यं भावं च दर्शयन्नर्थमात्रं करोमि । अनयैव रीत्या अन्येष्वपि ग्रन्थेषु व्यंग्यादि सद्भिर्विलोकनीयम् । ननु कथं स्वमुखेन स्वकृतं ग्रन्थं प्रशंससीति चेच्छृणु । मन्दस्य मम कथमीदृशग्रन्थकरणसामर्थ्यं, रघुनन्दन एव मदन्तः प्रविश्य निजं [1]चरितमुच्चरितवानतस्तत्कृतस्य [ग्रन्थस्य प्रशंसा कृता ।

नन्वस्य ग्रन्थस्य रघुनाथप्रणीतत्वे तत्र-तत्र विश्वनाथकृतत्वोत्कीर्त्तनविरोधस्तस्य] विघ्नशङ्काभयान् [2]मङ्गलाचरणाऽसंगतिश्चेति, चेन्न, मन्मुखोद्गतत्वेन[3] मत्कृतत्वोत्कीर्त्तनसंगतेः मन्मुखोद्गतत्वनिर्विघ्नत्वाय[4] शिष्टाचारप्रदर्शनाय[5] च मङ्गलाचरणोपपत्तेश्च[6] । अथ ग्रन्थस्य प्रकटनं चिकीर्षुर्मङ्गलमाचरति ।

॥ श्रीजानकीवल्लभाय नमः ॥

रामप्रेमपयोधिवर्द्धनविधुः शृङ्गारसारास्पदं[7],
संसारार्णवदासतारणतरि[8]र्मायातमोदीपिका ।
विद्युद्भा सुखवृन्दवर्षणकरी कादम्बिनी काप्यसौ,
मद्धृत्कञ्जनिवासिनी विजयतां श्रीजानकी सर्वदा ॥१॥

रामप्रेमेति । रामस्य प्रेमैव पयोधिः समुद्रस्तस्य वर्द्धने विधुश्चन्द्रः, शृङ्गारस्य यः सारस्तस्यास्पदं निवासस्थानं, संसार एवार्णवः समुद्रस्तस्माद्दासस्य तारणे तरिर्नौका, मायैव तमोऽन्धकारस्तस्य दीपिका, यथा दीपिका प्रसिद्धमन्धकारं नाशयति, तथेयमपि मायां नाशयतीत्यर्थः । विद्युत्तद्वद्[9] भा यस्याः सा, सुखवृन्दस्य वर्षणकरी, मद्धृत्कञ्जनिवासिनी मम हृदयकमले निवसनशीला, कापि प्रसिद्धकादम्बिनीतो विलक्षणा कादम्बिनी मेघमाला, एवम्भूता असौ श्रीजानकी सर्वदा विजयतां निजोत्कर्षं प्रकटयत्वित्यर्थः । अत्र मद्धृत्कंजनिवासिनीति पदेन मद्धृदये[10] निवसन्त्येतद्गुणविशिष्टा श्रीजानकी मद्हृदयोद्गतं[11] काव्यमप्येतद्गुणविशिष्टं करोत्विति व्यज्यते । तेन चैतद् ग्रन्थस्य परमोत्तमत्वम् । अत्र वक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्यजन्यपदप्रधानार्थशक्त्युद्भववस्तुना[12] वस्तुध्वनिः[13] । अत्र वक्ता कविस्तत्र वैशिष्ट्यं च सीतारामरासविषयकप्रेमरूपं प्रमाणान्तरवेद्यं[14] तत् तस्मात्तथा च

१. ख. त्वरितमुच्चरिवान् । [-] कोष्ठबद्धांशः ख. पुस्तके नाऽस्ति । २. ख विघ्नसंकाभान् ।
३. ख. मन्मुखोद्गततेन । ४. ख. शिष्टाचारप्रदर्शनाय । ५. ख. शन्मुखोद्गतत्वनिर्विघ्नत्वाय ।
६. ख. चरणोपपत्नेश्च । ७. ख. ०सारस्पदं । ८. ख० तारणारि । ९. ख. विद्युत इव ।
१० ख. मम हृदये । ११. ख. मम हृदयो० । १२. ख. ०शतुद्भववस्तुना ।
१३. ख. वास्तुध्वनि । १४. ख. प्रमाणान्तर्वेद्यं ।

कविना बोद्धव्या प्रतिपादनीया श्रीजानकी । तत्र प्रमाणान्तरवेद्यमभीष्टदातृत्वरूपं वैशिष्ट्यं, तस्मात्तज्ज्ञानवतां श्लोको यातस्यार्थस्य मम काव्यमेतद्गुणविशिष्टं कुर्वित्यन्यार्थबुद्धिहेतुव्यापारो व्यञ्जनावृत्तिः ।।१।।

कीर्त्याः कीर्त्तिरथो भुवोऽपि च तथा भूः श्रीः श्रियश्चोत्तमा,
ह्लादिन्यादिसुशक्तिसेवितपदा मायादिकस्वामिनी ।
सर्वेषामपि कामदो रघुपतिस्तस्यापि या कामदा,
सा सीता नयतां मदीयभणितिं रासेश्वरी चारुताम् ।।२।।

[1]कीर्त्तिरिति । कीर्त्याः लीलादेव्या अपि कीर्त्तिः लीलादेवी तथा भुवः भूदेव्या अपि भूः भूदेवी तथा श्रियः श्रीदेव्या अपि उत्तमा श्रीदेवी तथा च वाल्मीकीये "श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः[2] कीर्त्तिः[3] क्षमा क्षमेति"। तथा ह्लादिन्यादयो याः सुशक्तयश्चैतन्यशक्तयस्ताभिः सेविते पदे चरणे यस्याः सा, माया आदिर्यासा ता मायादिकाः जडशक्तयस्तासां स्वामिनी प्रवर्त्तनकर्त्री[4] । सर्वेषामपि कामदो रघुपतिः श्रीरामचन्द्रस्तस्यापि सर्वकामप्रदस्यापि, या कामदा कामदात्री सा रासेश्वरी सीता मदीयभणितिं चारुतां माधुर्यादिगुणसम्पन्नतां नयतां प्रापयतु । अत्र सीतापदस्यायमर्थः—

सा च लक्ष्मीः प्रकीर्तिता । अकारो वासुदेवः स्यादाकारश्च पितामहः, ऐकारः स्यान्महेश्वरः ।

इति एकाक्षरकोशात् । सा च अश्च आश्च ऐश्च[5]—एषां समाहारः 'सि' लक्ष्मीवासुदेवपितामहमहेश्वरम्, तदिता [अन्तर्यामितया प्राप्ता सीतेति सीतापदस्येदं व्यंग्यम् । सर्वान्तर्यामिविष्णोरप्यन्तर्यामितयासर्वा] ऽन्तर्यामित्वमिति । तेन च हृदि मां प्रेरयित्वेमं ग्रन्थं प्रादुर्भावयत्विति[6] व्यज्यते । अत्र वक्तृवैशिष्ट्यजन्यपदप्रधानशब्दशक्त्युद्भववस्तुना प्रार्थनारूपवस्तुध्वनिः । अत्र कीर्त्याः कीर्तिरित्यादिविशेषणैस्तत्प्रेरितमन्मुखप्रकटितकाव्यमपि[7] कीर्तिकर्तृ तथा भूप्रदं तथैश्वर्यप्रदं तथा निवृत्तिकारि तथा कामप्रदं करोत्वित्ति व्यज्यते । तेन च ग्रन्थस्य जगदुपकारकत्वमिति । रासेश्वरीति पदेन च मदीयहृदये रासं प्रकटयत्विति व्यज्यते ।।२।।

सर्वक्लेशमृणालपाटनपटुर्मत्तेभराजो बली,
सीतारामवियोगवह्निशमनः सांवर्त्तको वारिदः ।

---

१. ख. कीर्त्याः कीर्त्तिरिति । २. ख. कीर्त्ताः । ३. ख. अंशोऽयं नास्ति । ४. ख. प्रवर्त्तनकर्त्री । ५. ख. नाऽस्त्यमंशः । [-] कोष्ठकगतोंशः ख. पुस्तके नाऽस्ति । ६. ख. प्रादुर्भावत्विति । ७ ख. ०काव्यमयी ।

सौमित्रिक्षतराजरोगदमनो धन्वन्तरिर्वैद्यराट्,
नाम्ना श्रीहनुमान्सुरासरसिको मां सर्वतो रक्षतात् ॥३॥

श्रीरामचरितवर्णने मुख्यं विघ्नविनाशनं हनुमन्तं प्रार्थयति—

सर्वक्लेशेति । सर्वे ये क्लेशाः अथवा सर्वेषां ये क्लेशाः त एव मृणालानि कमलमूलानि तेषां पाटने उन्मूलने पटुः प्रवीणः, बली मत्तेभराजः मत्तगजराजः । सीतारामयोर्यो वियोगः, स एव वह्निः तस्य शमनः शान्तिकर्त्ता, सांवर्त्तकः प्रलयकालिकः, वारिदो मेघः । सौमित्रिर्लक्ष्मणस्तस्य क्षत रावणप्रहृतशक्तिजनितं तदेव राजरोगः राजयक्ष्मा तस्य दमनः, वैद्यराट् धन्वन्तरिः । एवम्भूतः नाम्ना श्रीहनुमान् हनुर्विद्यते यस्य स हनुमानत्र प्राशस्त्यार्थे मतुप्, दृढहनुरित्यर्थः । सुरासरसिकः सुन्दरो रासस्य रसिकः सर्वतो मां रक्षतात् । अत्र सकलक्लेशानां हनुमत्सामर्थ्यापेक्षया कमलमूलवत्[1] कोमलत्वं व्यज्यते । तेन च तन्नाशने हनुमतोऽत्यनायासतेति । मृणालोन्मूलने लघवोऽपि जीवाः समर्थाः भवन्ति, तत्र गजराजः, सोऽपि मत्तः, स पुनर्बलवान् समर्थो भवतीति किमु वक्तव्यमिति भावः । किञ्च गजो यावन्मात्रस्थल करेण प्राप्नोति, तावन्मात्रस्यैव मृणालान्युन्मूलयति न तु सकलतडागस्य । भवांस्तु यदीच्छेत्तदा[2] सकलसंसारस्य क्लेशान् युगपदेव निर्मूलयेदिति पटुताविशिष्टविलक्षणगजराजरूपकतया व्यज्यते । यतो भवानस्मत्स्वामिनोः सीतारामयोर्वियोगवह्निं शमितवानतस्तद्दासस्य[3] ममापि तयोः साक्षाद्दर्शनरूपवियोगं शमयेति सीतारामेत्यादिवाक्येन व्यज्यते । पुरा शक्तिविद्धलक्ष्मणरक्षणात्[4] श्रीरामस्त्वयि परमप्रसन्नोऽभूत्, सम्प्रति तस्यैव दासोऽहमपि हृदयलग्नयाऽज्ञान[5]-रूपशक्त्या मोहितस्तां[6] दूरीकुर्य्याश्चेत्तर्हि पुनरुपकारेण श्रीरामस्त्वय्यतिप्रसन्नो भविष्यतीति सौमित्रीत्यादिना व्यज्यते । हनुमानित्यनेन वीराङ्कयुक्तः, तेन च स्वामिनो वीरयोद्धास्तीति व्यज्यते ॥३॥

वीणापुस्तकहस्तमस्तकविधुः शुक्लाम्बुजन्मासना,
चन्द्रोद्भासविलासहासवदना विद्वज्जनैर्वन्दिता ।
शास्त्रव्यस्तसमस्तवेदविदिता विध्वस्तविश्वाज्ञता,
दत्तोद्दामधि मामकीनवदने वर्वर्त्तु वागीश्वरी ॥४॥

---

१. ख. कमलंलवत् । २. ख. यदीक्षेतदा । ३. ०स्तद्दशस्य । ४. ख. रक्षतात् ।
५ ख. ०ज्ञानं—। ६. ख. मोहितास्तां ।

अथ वागधिष्ठातृत्वात् सरस्वतीं प्रार्थयति—

वीणापुस्तकेति । वीणापुस्तके हस्तयोर्यस्याः सा, मस्तके विधुर्यस्याः सा, वीणापुस्तकहस्ता चासौ मस्तकविधुश्चेति कर्मधारयः । शुक्लाम्बुजन्म पुण्डरीकम् आसनं यस्याः सा, चन्द्रस्य उद्भासः प्रकाशः तस्येव[1] विलासो यस्य स चाऽसौ हासश्च वदने यस्याः सा, विद्वज्जनैर्वन्दिता शास्त्रैर्न्यायादिभिर्व्यस्तैर्ऋगादिरूपैः समस्तैर्गायत्र्यादिमन्त्ररूपैः प्रणवादिबीजरूपैर्वेदैश्च, "वेदः प्रणव एवाग्र" इति भागवतोक्तेः, विदिता ज्ञाता ब्रह्मस्वरूपिणीत्यर्थः । विध्वस्ता विनाशिता विश्वस्य अज्ञता यया सा, एवम्भूता वागीश्वरी वाचामीश्वरी सरस्वती, दत्तोद्दामा[2] महती धीर्बुद्धिर्यस्मिन्कर्मण्येवं मामकीनवदने मम मुखे वर्वर्त्तु अतिशयेन वर्त्तताम् । वीणापुस्तकहस्तेत्यनेन गाने काव्यादिसकलशास्त्रे च प्रवीणता[3], तेन च ममाऽकाव्यं[4] मधुरता-पदसाधुता-सालङ्कारता-सरसतासम्पन्नं करोत्विति व्यज्यते । मस्तकविधुरिति कमलासनेति-विशेषणद्वयेन आह्लादकत्वं तापनिवर्त्तकत्वं च यथा त्वय्यस्ति मदीये काव्येऽपि ते कुर्विति प्रार्थना व्यज्यते । हासवदनेति विशेषणेन तस्याः सदा प्रसन्नता व्यञ्जिता । तया च यः प्रसन्नो भवति स प्रार्थनामात्रेणैव मनोरथं पूरयतीति व्यज्यते । विद्वज्जनवन्दितेति विशेषणेन विद्वांसस्त्वत्प्रसादेनैव पाण्डित्यं लभन्त इति व्यज्यते । विध्वस्तविश्वाज्ञतेत्यत्र त्वमेव विश्वस्याज्ञानं नाशयस्यहमपि विश्वस्मिन्नेवास्म्यतो मे न काऽपि चिन्तेति भावः । वागीश्वरीत्यत्रायं भावः—वाचः सरस्वत्या ईश्वरी रामरासस्था सरस्वती मया प्रार्थिता सती मम मुखे स्थित्वा रामरासवर्णनचिकीर्षुं मामुत्तमवर्णनं कारयत्विति रामरासे सरस्वत्याः स्थितिरुक्ता[5] सुदर्शनसंहितायां तथाहि—

वाणी नित्यसखीव्यूहाद्वीणापाणिः समाययौ । इति ॥४॥

जयति सच्चिदानन्दघनवरदवरसर्वगुणशालिभृङ्गाररसपालिमूर्त्तिः,
सर्वजनवत्सल प्रविगलितमत्सर-प्रेमपाथोधि-पुरुषार्थपूर्त्तिः ।
सर्वगत-सर्वमत-सर्ववन्दितचरण-सर्वशरणागतोद्धृतिविहारी,
गुरुरूपरघुवरः श्रीप्रियादास इह विश्वनाथान्तरे[6] गीतकारी ॥५॥

अथ ज्ञानप्रदत्वाद् गुरुं स्तौति—जयतीति । इह विश्वनाथस्य मम अन्तरे हृदये, गीतकारी गीतं सङ्गीतरघुनन्दनं नाम काव्यरूपं तत्करणशीलः, श्रिया

---

१. ख. तस्यैव । २. ख. दक्षोद्दामा । ३. ख. प्रवीता । ४. ममापि काव्यं । ५. क. उक्ता ।
६. ख. विश्वनाथतरे ।

युक्तः प्रिय. अर्थात् सर्वेषां न दासः अदासः स्वतन्त्र इति यावत् । श्रीप्रियश्चासावदासश्चेति[1] कर्मधारयः, श्रीप्रियादासनामा गुरुरूपरघुवरः रघुश्रेष्ठः श्रीरामचन्द्रः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते, अर्थान्निजोत्कर्षं प्रकटयति । सच्चिदानन्दघनवरदेषु वरा श्रेष्ठा सर्वगुणशालिनी सकलकल्याणगुणशोभिता शृङ्गाररसः प्रियता भक्तिरूपस्तस्य पालिनी [2]स्वस्मिन्नाचरणेन अन्यत्र प्रचारकरणेन च पालनशीला एवम्भूता मूर्त्तिर्यस्य सः । सर्वजनवत्सलः सर्वेषु जनेषु वत्सलः प्रीतियुक्तः अथवा सर्वे जना वत्सलाः प्रीतियुक्ताः यस्मिन् सः समदर्शीत्यर्थः । प्रविगलितमत्सरः प्रकर्षेण विगलितो मत्सरः परोत्कर्षासहनं यस्य सः, प्रेम्णः पाथोधिः समुद्रः अथवा प्रेम्णः पाथोधिर्यस्मात् सः यत्संगाज्जनः प्रेमसमुद्रो भवतीत्यर्थः, पुरुषार्थानां धर्मार्थकाममोक्षाणां पूर्त्तिर्यस्मात् सः तेषां दातेत्यर्थः, प्रविगलितमत्सरश्चासौ प्रेमपाथोधिः स च पुरुषार्थपूर्त्तिश्चेति कर्मधारयः । सर्वगतः सर्वव्यापी, सर्वमतः सर्वेषां सम्मतः, सर्वैर्वन्दिते चरणे यस्य सः, सर्वे ये शरणागतास्तेषामुद्धृत्यै विहरणशीलः । सर्वगतेत्यादिचतुर्णां विशेषणानां कर्मधारयः । वरदवरेत्यस्यायमर्थः—अन्ये वरदातारः सेवातो वरं ददति, अयन्तु स्वयमेव तत्र-तत्र गत्वा वरं ददातीति, एतेन[3] तस्यातिसौलभ्यं व्यज्यते । तेन च दयालुतातिशय इति । एष भक्तावतार धृत्वा सामन्यांश्च कृतार्थानकरोदिति कथा लोके प्रसिद्धैव । सर्वजनवत्सलेति विशेषणेन एष कृतेऽप्यपकारे उपकारमेवकरोतीति व्यज्यते, तेन चास्य वैषम्याभाव इति । प्रविगलितमत्सर इति विशेषणेन एष विपक्षस्यापि[4] दोषाननालोच्य प्रसन्नो[5] भवतीति व्यज्यते । तेन चास्य[6] गुणग्राहकत्वमिति । प्रेमपाथोधीत्यनेन मेघा[7] यथा समुद्राज्जलमादायान्यत्र वर्षन्ति तथास्मात् प्रेमाणमादायान्येऽन्यानपि कृतार्थयन्तीति व्यज्यते । पुरुषार्थपूर्त्तिरिति-[8] विशेषणेन एष एव रचयिताऽतो मम[9] काव्यमपि पुरुषार्थचतुष्टयदायकं करिष्यतीति व्यज्यते, तेन च विषयिणामप्यस्य प्रियत्वमिति । सर्वगतेत्यादिना सर्वस्यान्तरे ममैव प्रतिपादने तात्पर्यमस्तीति सर्वगतत्वादपगत्य सर्वतो विरोधं परिहृत्य सर्वमतं[10] स्वीकरोति तत्तद्देवताद्वारफलं[11] च ददाति तत एव कोऽपि कस्यापि वन्दनं करोतु तत्तस्यैव भवति । उक्तञ्च भारते—

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥

---

१. ख. वदाश्वेति । २. ख. स्विस्मिन्ना० । ३. ख. एतेन च । ४. विपक्षास्यापि ।
५. ख. प्रशन्नो । ६. ख. च पर । ७. क. मेघ । ८. ख. पुरुषार्थपूर्ति— । ९. ख. नमः ।
१०. ख. सर्वमेतं । ११ ख. तक्षदेवताद्वारा फलं ।

इति । तत एव कोऽपि कमपि शरणं यातु, तत्रोद्धरणसामर्थ्यं तस्यैवेति[1] व्यज्यते । तदुक्तम्—

कर्तृत्वं करणत्वं च स्वभावश्चेतना धृतिः ।
यत्प्रसादादिमे सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥इति।

विश्वनाथेत्यादिना यस्य गीतं स एव मदन्तः[2] प्रविश्य करोत्यतो यथार्थं भविष्यतीति व्यज्यते । सर्वत्र गीते प्रथमचरणं ध्रुवपदम्[3] । तत्क्वचिदधिकमात्रं क्वचिन्न्यूनमात्रं क्वचित्सममात्रं सर्वाचार्य्यकृतौ दृश्यतेऽतोऽत्र दण्डके प्रथमपदे मात्रात्रयाधिक्यमदूष्यम् ॥५॥

शिव हरिचरितसरोवरव्यङ्ग्यकमलरसभृङ्ग ।
शरणं तव चरणं भजे ध्यानाश्रितगिरिशृङ्ग ॥६॥

अथ श्रीरामलीलापरमरसिकं स्वादिगुरुं श्रीशिवं स्तौति—

शिवेति । हरेश्चरितं रामायणादिरूपं तदेव सरोवरं तत्र व्यंग्यार्थ एव कमलं, तत्र यो रसः आस्वादविशेषस्तत्र भृङ्गः, भ्रमरसदृशः श्रीरामचरितव्यंग्यार्थरसास्वादनेऽतिनिपुणः । ध्यानाय आश्रितं गिरेः कैलाशस्य शृङ्गं शिखरं येन एवम्भूत हे शिव ! शरणं रक्षकं तव चरणं भजे । ध्यानेत्यादिविशेषणेन एकान्तमास्थाय श्रीरामचरितमेव सर्वस्वं ज्ञात्वा तदनुभवं करोषीति व्यंजितम् । तेनाहमपि सङ्गीतरघुनन्दनं करोमि । हे शिव ! तदप्यास्वादयेति प्रार्थना व्यज्यते । Xतेन च ग्रन्थस्य गुरुसमर्पणं,X तेन च ग्रन्थस्य कविमनसि सिद्धत्वमिति ॥६॥

गोविन्दगुरुगुणालीश्रुतिशर्मभवाश्रुमालतीमाल ।
धृतचन्दिर गुणमन्दिर लम्बोदर तावकं पदं वन्दे ॥७॥

अथ विघ्नविध्वंसाय स्वप्रमन्त्रप्रदगुरुपुत्रं गणेशं वन्दते—गोविन्देति । गोविन्दस्येन्द्रियप्रवर्त्तकस्य श्रीरामचन्द्रस्य गुरवो रामसम्बन्धिनो[4] नृत्यगीतादयो ये गुणास्तेषामाल्यः परम्परास्तासां या श्रुतिः श्रवणं तस्यां यच्छर्म सुखं तेन भवानि जातानि यान्यश्रूणि तान्येव मालत्यः मालतीपुष्पाणि तासां माला यस्य तत्सम्बुद्धिः । धृतश्चन्दिरश्चन्द्रो येन तत्सम्बुद्धिः । हे गुणानां मन्दिर, गुणनिवासस्थान, अत एव लम्बोदर, तावकं पदं वन्दे । अयं भावः—गोविन्दगुरुगुणपर-

---

१. ख. तस्यैव वेति । २. ख. मदंतं । ३. ख. ध्रुपदं । X-X चिह्नान्तर्गतांशस्याभावः ख. पुस्तके । ४. ख. राससम्बन्धिनो ।

म्परयान्तःकरणं पूर्णं [1]सुखाश्रुमालतीमालाभिर्वक्षःस्थलं पूर्णमस्ति। चन्द्रधारकत्वेन सकलकल्याणगुणाश्रयत्वेन च ऐहिकपारलौकिकतापनिवर्त्तकस्त्वमसीति। गोविन्देत्यादिविशेषणेन गणेशस्य रासवर्णनश्रवणरसिकत्वं व्यंजितम्। तेन च तद्विषयकस्य मम ग्रन्थस्यापि श्रवणं कुर्विति प्रार्थनेति[2] ।।७।।

विन्ध्ये रिपुगजसिंहो जयसिंहो राजसिंहोऽस्ति।
तनुते तस्य तनु(नू)जो ग्रन्थं सङ्गीतरघुनन्दनाख्यम् ।।८।।

अथ ग्रन्थविस्तरणं प्रतिजानीते–विन्ध्य इति। रिपव एव गजास्तेषां सिंह इव, जयसिंहः जयसिंहदेवनामा, राजसिंहः राजश्रेष्ठो विन्ध्ये गिरौ अस्ति[3], अथवा विन्ध्ये विन्ध्यगिरिसदृशे तमोगहने संसारे रिपवः कामादय एव गजास्तेषां सिंहः सिंहसदृशः, यमादिभिः राजन्ते इति राजानस्तपस्विनस्तेषु सिंहः श्रेष्ठो जयसिंहोऽस्ति, तस्य तनुजः[4] पुत्रः विश्वनाथसिंहदेवनामा, सम्यग्गीतो रघुनन्दनो यस्मिन्सः संगीतरघुनन्दन इति आख्या नाम यस्य तं, ग्रन्थं आनुपूर्वीविशिष्टपदसन्दर्भं तनुते विस्तारयति। विस्तारो हि पूर्वसिद्धस्यैव भवत्यतस्तनुत[5] इति क्रिययास्य[6] ग्रन्थस्य पूर्वसिद्धत्वं व्यंजितम्। तेन चैतद्रीत्या रघुनन्दनो रासं करोतीति व्यज्यते ।।८।।

चिरमननसमनुभूतश्रीसीतारामरासंयुक्तः।
सद्यो रसिकजनानां[7] हृदयानन्दी भवत्वयं सुचिरम् ।।९।।

अथ ग्रन्थकर्त्तृकाशीर्दानपूर्वकमनुबन्धचतुष्टयं[8] दर्शयति—

चिरमननेति। अगस्त्यसंहिताशुकसंहिताहनुमत्संहिताशिवसंहिताकोशलखण्डब्रह्मरामायणादीनां [9]श्रीमध्वाचार्यकृतवाल्मीकीयरामायणसन्दर्भस्य च यच्चिरमननं तेन सम्यगनुभूतो यः श्रीसीतारामयोः रासस्तेन संयुक्तस्तद्दर्शनसंयुक्त इत्यर्थः। अथ[10] ग्रन्थः रसिकजनानां सद्यो हृदयानन्दी सुचिरं बहुकालं भवतु। अत्राधिकारी रसिकोपासकः, विषयो रासः सम्बन्धश्च[11] प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः प्रयोजनं प्रेमलक्षणा भक्तिः ।।९।

---

१. ख. सुखामालती०। २. ख. नास्त्ययमंशः। ३. ख. असि। ४. ख. तनजः।
५. ख. ०स्तनु। ६. ख. त्रिक्रियया०। ७. ख. ०जनां। ८. ख. ग्रन्थकर्तृकर्त्ताशी०।
९. ख. ०वाल्मीकीरामा०। १०. ख. अयं। ११. ख. संबंश्च।

नृपबोधद[1] वेदक्षितिपालनकारी, प्रलयपयोधिसलिलसञ्चारी।
श्रीरघुवर मीनसुरूप ! जय जगदीशपते ॥१॥

तत्तदवतारकृतलीलां[2] वर्णयन्नवतारिणं स्तौति[3]—नृपेति नृपाय सत्यव्रतनाम्ने बोधं ज्ञानं ददातीति नृपबोधदः तत्सम्बुद्धिः हे, नृपबोधद ! मीनस्य सुष्ठु[4] रूपं यस्य[5] तत्सम्बुद्धिः, हे मीनसुरूप[6] ! जगतां य ईशस्तेषां[7] पते श्रीरघुवर ! वेदक्षित्योः पालनकारी[8] प्रलयपयोधेः सलिलसञ्चरणशीलस्त्वं जय निजोत्कर्षं प्रकटय। भक्तिज्ञानाभ्यां[9] रहिताय त्वमेव ते दत्वा तदुद्धारं करोषीति भावः। नृपबोधदेत्यादिनाऽकरणोपकारकत्वं व्यज्यते। तेन च तादृशाय मह्यमपि ते देहीति प्रार्थना व्यज्यते। जयेत्यनेन यस्य तव चरितानि कथयितुं शेषादिका असमर्थाः, स त्वमेव मन्दमतेर्मम हृदम्बुजे स्थित्वा निजगुणवर्णनसमर्थं मां कुर्विति व्यज्यते। दर्शितप्रलयो मीनरूपभगवान्[10] सत्यव्रतनामानं राजानं महीमय्यां[11] नौकायामारोप्य, ताञ्च निजशृङ्गे बन्धयित्वा प्रलयपयोधिसलिले सञ्चचारेति कथा भागवते प्रसिद्धा ॥१॥

जलधिमथनबहुखिन्नसुरासुरपाता, जलतलयातमन्थनगधाता।
श्रीरघुवर कमठसुरूप ! जय जगदीशपते ॥२॥

जलधिमथनेति[12]। हे कमठसुरूप श्रीरघुवर ! जलधिमथने बहुखिन्ना ये सुरासुरा[13]स्तेषां पाता[14] रक्षकः, जलतलं यातः प्राप्तो यो मन्थनगो मन्दराचलस्तस्य धाता धारणकर्त्ता त्वं जय। अत्रेद व्यंग्यम्—हे भगवन्, परमदयालुस्त्वं स्वभक्तानां हि क्लेशं स्वयमङ्गीकृत्य तत्कार्यं करोषीति। तेन च ममापि सङ्गीतरघुनन्दनग्रन्थविधानरूपकार्यं कुर्विति ॥२॥

रदशिखरे धरणी तव लसति विशाला, गिरिशगिराविव घनघनमाला[15]।
श्रीरघुवर शूकररूप ! जय जगदीशपते ॥३॥

रदेति। गिरिशगिरौ कैलाशे, घना निविडा चासौ घनानां मेघानां या माला पंक्तिः, सेव तव रदस्य दन्तस्य शिखरेऽग्रभागे विशाला विस्तीर्णा धरणी लसति शोभते। हे जगदीशपते शूकररूप श्रीरघुवर ! त्वं जय। शूकररूपेण हिरण्याक्षं[16]

---

१. ख नृपबोध। २. ख. लीला। ३. ख. स्तौत्य। ४. ख सुख। ५ पश्य। ६ ०स्वरूप। ७. ख. ईशास्तेषां। ८. क. पानसाकारी। ९. न शक्ति०। १०. मीनरूपो०। ११. ख. महीपम्या। १२. ख. जलध०। १३. ख. सुसुरा०। १४ ख. धाता। १५ ख. धुनघन०। १६. ख. हि हिरणाक्षं।

हत्वा धरण्युद्धृतेति[1] कथा प्रसिद्धैव । अत्रेदं व्यंग्यम् — हे भगवंस्त्वं हि सागरमग्नानुद्धृत्य निजाङ्के शोभयस्यतस्त्वं सदा दीनोद्धाररसिक इति । तेन च ससारसागरे मग्नं मामप्युद्धृत्य निजाङ्कसङ्गिनं विधेहीति ।।३।।

तव भुजभीमभुजङ्गो नखरदधारी, कनककशिपुमण्डूकविदारी ।
श्रीरघुवर नरहरिरूप ! जय जगदीशपते ।।४।।

तव भुजेति । नखा एव रदा दन्तास्तान् धरति तच्छील:, तव भुज एव भीमो भयानको भुजङ्गः, कनककशिपुर्हिरण्यकशिपुनामा दैत्यः स एव मण्डूकस्तस्य विदारी[2] तं विदारितवान्[3] । हे जगदीशपते नरहरिरूप नृसिंहरूप श्रीरघुवर ! त्वं जय । एतेन जिघृक्षोः कालभेकात्कीटरूपं मां रक्षेति[4] प्रार्थना व्यज्यते । तेन च तस्य कालकालत्वमिति ।।४।।

छलितोऽनुच्छलयन् बलिमवसि द्वारम्, पदपयसाऽपनयसि भवभारम् ।
श्रीरघुवर वामनरूप ! जय जगदीशपते ।।५।।

छलित इति । बलिमनुच्छलयन् स्वयमेव छलितस्तस्य द्वारमवसि रक्षसि । किञ्च पदपयसा[5] चरणजलेन गङ्गारूपेण, भवस्य संसारस्य भारमपनयसि दूरीकरोषि । पापिन एव भवभारस्तेषां[6] गङ्गादर्शनादिना पापानि[7] ह्रियन्ते[8] इति भावः । हे वामनरूप श्रीरघुवर ! त्वं जय । अहं तवांशश्शक्तिर्वा[9], त्वद्विषयक-सख्यदास्यादिभावोचितं मां स्वमायया छलयित्वा बद्ध्वा च कर्मरज्जुभिरनेक-योनिषु नर्त्तयसि । बलिं सकृच्छलयित्वा तद्द्वारमवसीति श्रूयते । बहुशश्छलनेन मम नेत्रद्वारतो न दूरीभवेति । छलित इत्यादिवाक्येन प्रार्थना व्यज्यते । तेन च तव वियोगस्यातिदुःसहत्वम् । 'वाम संघर्षे' इति धातुः, वामयति[10] पराभावयति निजभक्तवत्सलतयेतरभक्तवत्सलानिति वामनः, यतोऽपकर्त्तुं गत्वा बलेः परमो-पकारं कृतवानिति । 'खर्वो ह्रस्वश्च[11] वामन' इत्यमराभिधानाद् वामनशब्दस्या-यमाशयः । ईश्वरोऽपि लघुकार्यं कुर्वन् लघुरूपो भवति । अथवा 'टुवम् उद्गिरणे' इति धातुः, वामयत्युद्गारयति बलिना पृथ्वीमिति वामनपदेनानेकविषयवासना मम मनस उद्गारयेति प्रार्थना व्यज्यते ।।५।।

---

१. क. धरण्युद्धृता । २. ख. विदारि । ३. ख. विदारितवन् । ४. ख. ररक्षेति ।
५. ख. ०पयशा । ६. भवभारास्तेषां । ७. ख. पापानि । ८. ख. ह्रियन्ते ।
९. ख. तवांशशशक्तिर्वेत । १०. ख. वामइति । ११. ख. ह्रस्व ।

[1]सुखदसांख्यरचनातिचतुरमुनिमूर्त्ते, देवहूतिसुमनोरथपूर्त्ते ।
श्रीरघुवर कपिलसुरूप[2] ! जय जगदीशपते ॥६॥

सुखदेति । सुखदं मोक्षप्रदं यत्सांख्यं तस्य रचनायामतिचतुरा मुनिमूर्त्तिर्यस्य तत्सम्बुद्धिः, देवहूतेः सुन्दरमनोरथानां पूर्त्तिर्यस्मात्तत्सम्बुद्धिः, जगदीशपते कपिलसुरूप श्रीरघुवर ! त्वं जय । सुखदेत्यत्रायं भावः — नास्तिकप्रशंस्याग्निवेशप्रणीतसांख्याद् भक्तिमिश्रं कपिलप्रणीतं सांख्यं पृथगिति । अत्रेदं व्यंग्यम् — हे मननशील ! त्वमेव विचारय, सर्वो लोके निजजननीमनोरथं पूरयत्यतो लोकसदृश एव त्वं जात इति । तेन च मम मनोरथमापूर्य्य निजेश्वर-[3]त्वमुद्घाटयेति प्रार्थना व्यज्यते ॥६॥

धृतहलमुशलनिहतखलनृपनिकुरुम्बम्, प्रणमति यममरमनुजकुटुम्बम्[4] ।
श्रीरघुवर हलधररूप ! जय जगदीशपते ॥७॥

धृतेति । धृताभ्यां हलमुशलाभ्यां निहतं खलानां नृपाणां निकुरुम्बं समूहो येन सः तं, अमराणां मनुजानां च कुटुम्ब परिवारः यं प्रणमति, स हे जगदीशपते हलधररूप श्रीरघुवर ! त्वं जय । अत्रेदं व्यंग्यम्—हे भगवन् ! सपरिवारसुरनरप्रणताद् भवत इतरो रक्षकः कोऽपि न लक्ष्यतेऽतो नानादुःखदेभ्यः कलियुगखलेभ्यो मां रक्षेति । तेन कलौ खलबाहुल्येन निजग्रन्थप्रचारादिशङ्केति ॥७॥

केलिकुतूहलकरमुनिमानसकर्षी, रासोल्लासमहासुखवर्षी ।
श्रीरघुवर कृष्णसुरूप ! जय जगदीशपते ॥८॥

केलिकुतूहलेति । हे जगदीशपते कृष्णसुरूप श्रीरघुवर ! केलौ क्रीडायां कुतूहलस्य कौतुकस्य [कर्त्ता स चाऽसौ मुनीनां मानसस्य][5] कर्षणशीलः, पुनश्च रासोल्लासे महासुखवर्षणशीलस्त्वं जय । मुनिमानसेत्यादिवाक्येन सर्वोपासनाभ्यो रासोपासनस्य परत्वम् । तेन च हे भगवन् ! ममापि मानसमन्यत आकृष्य निजरास एवासक्तं[6] कुर्विति । तेन च यथायोग्यं रासवर्णनं कुर्य्यामिति प्रार्थना व्यज्यते ॥८॥

जनहिततपसि निरतिमुपयासि सुधामा, परतर ! नरनारायणनामा ।
श्रीरघुवर तापसरूप ! जय जगदीशपते ॥९॥

---

१. ख. सुखदमाख्य० । २. ख ०स्वरूप । ३. ख. तिजेज्वर—। ४. ख. यममरकुटुम्बम् । ५. [-] कोष्ठान्तर्गोऽशः क. पुस्तके नाऽस्ति । ख. एवाशक्तं ।

जनहितेति । शोभनं धाम तेजो यस्य सः, हे परतर ! अतिश्रेष्ठ, नर इति नारायण इति च नाम यस्य सः, यद्वाऽतिशयेन परं नर-नारायण इति नाम यस्य सः, त्वं जनानां हिताय तपसि निरतिं प्रीतिमुपयासि प्राप्नोषि । अत्र नर-नारायण इति नामद्वयं एकावताराभिप्रायेण । हे जगदीशपते तापसरूप श्रीरघुवर ! त्वं जय । अत्रेदं व्यंग्यम्—जनहिताय स्वयमेव तपः करोषि । अतः परमदयालुस्त्वमतो हे भगवन् ! तव तपःफलमर्हते मह्यमपि[1] स्वभक्तिं देहीति । तेन च स्वस्य तपःकरणाद्यसामर्थ्यमिति । यद्वा पक्षे रघुवरनाम्नः[2] परमत्वं व्यज्यते ।।९।।

शापमकरहरिगायनसुरतनुदाता, शरणागतगजयूथपपाता ।
श्रीरघुवर वरहरिरूप ! जय जगदीशपते ।।१०।।

शापमकरेति । हे जगदीशपते ! वरं श्रेष्ठ हरिसंज्ञकं रूपं यस्य सः तत्सम्बुद्धिः, हे रघुवर ! शापेन मकरो यो हरेरिन्द्रस्य गायनो गन्धर्वस्तस्य सुरतनोर्दाता, शरणागतस्य गजयूथपस्य गजराजस्य पाता रक्षकस्त्वं जय । अत्रेदं व्यंग्यम्—हे भगवन्ननेकजन्मदुष्कृतहरणं तव नामगुणकीर्त्तनं कुर्वन्तं मामज्ञानमकरः[3] कुतो ग्रसितवान् जन्मान्तरे कस्यचिच्छापाच्चेत्तमपि त्वमेव निवार्य्याऽज्ञानमकरात्तरसो-[4] द्धरस्वेति । तेन च स्वस्यानन्यशरणागतत्वमिति[5] ।।१०।।

क्षत्रियमुण्डविगुम्फितवरतरहारम्, गिरिशगलं गमयसि बहुवारम् ।
श्रीरघुवर भृगुवररूप ! जय जगदीशपते ।।११।।

क्षत्रियेति । क्षत्रियाणां मुण्डैर्विगुम्फितः स चासौ वरतरहारश्च स तं, बहुवारं गिरिशस्य शिवस्य गलं गमयसि प्रापयसि । हे जगदीशपते भृगुवररूप परशुराम-स्वरूप श्रीरघुवर ! त्वं जय । ये रणे सम्मुखीभूय[6] म्रियन्ते तच्छिरोमाला महादेवो धारयतीति प्रसिद्धः । अत्रेदं व्यंग्यम्—हे भगवंस्त्व श्रीशिवस्य समर्थ-शिष्यः । स्वप्ने स एव मन्त्रं मह्यमपि दत्तवान्, पश्चान्मया श्रीहरिगुरुप्रियादास-मुखाच्छ्रुतोऽतः सतीर्थ्यं[7] ज्ञात्वा मयापि सख्यं कुर्विति । तेन मामपि समानशीलं कुर्विति च ।।११।।

वितरसि विबुधचयाय नवोदितममृतम्, चिरचिन्तनसञ्चितमिव सुकृतम् ।
श्रीरघुवर मोहिनरूप[8] ! जय जगदीशपते ।।१२।।

---

१. क. मह्यम । २ ख. नाम्ना । ३. ख. मामज्ञानं० । ४. ख ०मकराक्षरसो— ।
५. ख स्वस्यानन्य० । ६. ख. संमुखीभय । ७. ख सतीर्थं । ८. क. मोहिनरूप ।

त्रितरसीति। विबुधानां देवानां चयाय[1] समूहाय, चिरं तव चिन्तनेन सञ्चितं सुकृतमिव नवोदितं नवमुत्पलं समुद्रातिशेषः अमृतं वितरसि ददासि। हे जगदीशपते, मोहिन्या इदं मौहिनं तद्रूपं यस्य तत्सम्बुद्धिः, हे मौहिनरूप श्री रघुवर! त्वं जय। अत्रेदं व्यंग्यम्—भक्तेषु हरेर्ममत्वमस्तीति। तेन च मय्यपि ममत्वं कृत्वा मामपि प्रेमामृतं पाययस्वेति[2] ॥१२॥

पशुहिंसाविधिपरमवगणयसि निगमम्, प्रकटितबहुपाखण्डाधिगमम्।
श्रीरघुवर बुद्धसुरूप! जय जगदीशपते ॥१३॥

पशुहिंसेति। पशुहिंसाविधिपरं यज्ञप्रतिपादकं, निगमं वेदं, प्रकटितो बहूनां पाखण्डानामधिगमः प्राप्तिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथाऽवगणयसि निन्दसि। हे जगदीशपते बुद्धसुरूप श्रीरघुवर! त्वं जय। अत्रायं भावः— हे भगवन्! भवानसुरमोहनाय पाखण्डमतं प्रतिपादयन्[3] वेदमपि पशुहिंसाप्रतिपादकं दर्शयित्वैव[4] निन्दितत्वान्[5] वेदार्थं तु न प्रकटितवानिति। तथा[6] च साक्षात्पशुबलिं प्रतिपादयतां देवानामिष्टपशुं[7] प्रतिपादयद्भिर्मुनिभिः सह[8] विवादे मध्यस्थो राजा उपरिचरनामा, पुष्टदेवा[9] वर्षणेन मम राज्यं समृद्धं करिष्यन्तीति विचारयन् देवानामेव पक्षं रक्षितवानिति पञ्चरात्रीया कथा महाभारते मोक्षधर्मे भीमोक्ता प्रसिद्धा। अत्रेदं व्यंग्यम्—[10]ईदृक्प्रवीणस्त्वमन्येषां भ्रममुत्पाद्य स्वभक्तरक्षणं करोषीति। तेन च मामपि रक्षेति ॥१३॥

अघगणभवनयवननिधनदवरबाहुः, कलिविधुकवलीकरणे राहुः[11]।
श्रीरघुवर कल्किसुरूप[12]! जय जगदीशपते ॥१४॥

अघगणेति। हे जगदीशपते कल्किसुरूप[13] श्रीरघुवर! अघगणानां पापसमूहानां भवनानि ये यवना[14] म्लेच्छास्तेषां[15] निधनदः[16] मरणप्रदो वरः श्रेष्ठो बाहुर्यस्य सः, कल्किरेव विधुस्तस्य कवलीकरणे राहुसदृशस्त्वं जय। अत्र कलिग्रसनेन सत्ययुगप्रवर्त्तकत्वं प्रतीयते। अत्रेदं व्यंग्यम्—निजराज्ये कलिं नाशयित्वा सत्ययुगप्रवृत्तिं कुर्विति। तेन च सुचेतीभूय तव भजनं कुर्य्यामिति ॥१४॥

---

१ ख चपाप। २. क. पायस्वेति। ३. ख. प्रतिपन् ४. ख. दर्शयत्वेव। ५ निन्दितवन्। ६. ख यथा। ७. ख ०पिष्टपशुं। ८. ख. स। ९. ख. पुष्टा देवा। १०. ख. इदृक्प्रवीण०। ११. ख. अघ०णयमन०। १२-१३. ख. ०स्वरूप। १४. क. यमना। १५ ख म्लेक्षा०। १६. क. निधदः।

धन्वन्तरिरिति नाम गदघ्नं त्वरितम्, भवदुदितं किमु भेषजमशितम् ।
श्रीरघुवर वैद्यसुरूप ! जय जगदीशपते ॥१५॥

धन्वन्तरिरिति । धन्वन्तरिरिति नाम त्वरितं गदघ्नं रोगनाशकमस्ति । भवदुदितं भवता कथितं, भेषजमौषधं, अशितं भक्षितं सत् शीघ्रं रोगं नाशयतीति किमु वक्तव्यम् । हे जगदीशपते वैद्यसुरूप श्रीरघुवर ! त्वं जय । अत्रेदं व्यंग्यम्—हे भगवन् ! भगवद्भजने मां रोगा बहु व्याकुलयन्ति[1] । तद्यथाऽहमगदः स्यान्तथा कृपां विधेहीति । तेन च भवत्कीर्त्तनमनारतं कुर्य्यामिति ॥१५॥

रुचिररुची रुचितनयोऽसुररिपुलोकम्, सुखयसि शमितसकलभवशोकम् ।
श्रीरघुवर यज्ञसुरूप ! जय जगदीशपते ॥१६॥

रुचिररुचिरिति । रुचिरा रुचिर्दीप्तिर्यस्य सः, रुचेः रुचिनामप्रजापतेस्तनयः पुत्रस्त्वं, असुररिपुलोकं देवलोकं, शमितः शान्तिं नीतः सकलस्य भवस्य संसारस्य शोको यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा सुखयसि सुखिनं करोषि । हे जगदीश-पते यज्ञसुरूप श्रीरघुवर ! त्वं जय । अत्रेदं व्यंग्यम्—संसारशोकनाशनसमर्थस्त्वं संसारगतस्य ममापि शोकं दूरीकुर्विति । अनया च प्रार्थनया संसारतापभय-व्याकुलता व्यज्यते ॥१६॥

सागरसमरदरासुरहृदयविदारक, वेदोद्धारक वनसञ्चारक[2] ।
श्रीरघुवर हयगलरूप ! जय जगदीशपते ॥१७॥

सागरेति । सागरे समुद्रे, समरे युद्धे, दरासुरस्य शंखासुरस्य, हृदयं विदारयतीति सः तत्सम्बुद्धिः, वेदानुद्धरतीति सः, वने जलेऽरण्ये वा सञ्चरतीति सः तत्सम्बुद्धिः, हे जगदीशपते हयगलरूप हयग्रीवरूप श्रीरघुवर ! त्वं जय । अत्रेदं व्यंग्यम्—भवतो वेदध्यातिप्रियत्वमिति । तेन चेदानीं कलिखलैरन्यार्थकथनेन[3] लोपितं वेदार्थं मदन्तः स्थित्वा मन्मुखाद्यथा स्थितार्थं प्रकटयेति । तेन च सङ्गीतरघुनन्दनस्य [4]यथावस्थितवेदार्थसारत्वमिति ॥१७॥

नगरमूलनगरादिकबहुरचनो ही, गिलितबीजगोतनुगोदोही ।
श्रीरघुवर पृथुनृपरूप ! जय जगदीशपते ॥१८॥

---

१. ख. व्य कुलयेति । २. ख. वचन० । ३. ख. कथिनेन । ४. ख. यथास्थिति० ।

नगरेति। हे जगदीशपते पृथुनृपरूप श्रीरघुवर ! नगरं प्रसिद्धं मूलनगरं, यस्मिन् बहुग्रामा लगन्ति[1] तत्, आदिपदेन पुरग्रामव्रजादीनां संग्रहः, तेषां या बह्वी रचना, तस्या ऊहस्तर्को[2] यस्य सः, गिलितं बीजं यया सा गोस्तनुर्यस्याः सा, सा चासौ सा चेति कर्मधारयः। गिलितबीजगोतनुश्चासौ[3] गौश्चेति सा, तादृशपृथिव्या दोहो दोहनशीलस्त्वं जय। अत्रेदं व्यंग्यम्—हे भगवन्ममापि त्वत्सर्मपितराज्ये[4] कलियोगाद् बह्वन्नमनुत्पादयन्त्याः[5] पृथ्व्याः प्रचुरमन्नमुत्पादयेति। तेन च राज्य-शासनप्रवीणेन भवतैव बद्धा राजमर्य्यादा, तदिदमपि राज्यं समर्यादं विधेहीति। तेन चाऽहमपि सुचेतीभूय भवच्चरितवर्णनं करवाणीति ॥१८॥

परहितपरमहंसपथविचलनशीलः[6], भूसञ्चरणापरिमितलीलः।
श्रीरघुवर ऋषभसुरूप ! जय जगदीशपते ॥१९॥

परहितेति। हे जगदीशपते ऋषभसुरूप श्रीरघुवर ! परेषामन्येषां हिताय परम-हंसानां पथि मार्गे विचलनशीलः, भूसञ्चरणेऽपरिमिता लीला यस्य सः, त्वं जय। अत्रेदं व्यंग्यम्—हे भगवन्नानन्दरूपः परहितपरमहंसमार्गधार्य्यपरिमितलीलस्त्वं [7]भवदत्त(दात्त दृत्त?) राज्यवास्तव्यानार्य्यलोकभीतस्य भवच्छरणागतस्य ममापि परमहंसकरणरूपामेकलीलां[8] कुर्विति। तेन च संसारात्स्वस्य[9] वैराग्यवत्तेति। तेन च संसारे क्लेशाधिक्यमिति ॥१९॥

गुरुगणनामिषविमुषितभुवनातोषः[10], अवधूतो जननुतोऽपरोषः।
श्रीरघुवर दत्तसुरूप ! जय जगदीशपते ॥२०॥

गुणगणनेति[11]। हे जगदीशपते दत्तसुरूप श्रीरघुवर ! गुरूणां गणनायाः[12] मिषेण[13] छलेन, विमुषितः हृतः भुवनस्य अतोषो येन सः, अपगतः[14] रोषः क्रोधो यस्मात्सः, जनैर्नुतः स्तुतोऽवधूतस्त्वं[15] जय। अत्रेदं व्यंग्यम्—हे भगवंस्त्वं हि निजाचरणप्रचारेण भुवनस्यासन्तोषं हृत्वाऽनेकगुरूकरणच्छलेन स्वस्मिन्नेव तं रक्षितवानतो भुवनान्तर्वर्त्तिनो ममाप्यन्यविषयकमसन्तोषं हृत्वा स्वपरिचर्य्यायामेवा[16]ऽसन्तोषं विधेहीति। तेन च भगवत्परिचर्याया:[17] ज्ञानादप्युत्कृष्टत्वमिति ॥२०॥

---

१. क. लागंति। २. ख. ऊदहस्तर्कौ। ३. ख. ०गोंततु०। ४. ख त्वत्समर्पीतराये।
५ ख. ०नुत्पादयन्त्याहः। ६. ख. ०विचलशील:। ७ ख. भवदक्ष०। ८. क. ०रुपमेक०।
९. ख ०तस्य। १० ख ०मिषिविमुषितभुवनातोषा। ११ क गुरुगणेनिति। ख गुरुगननेति।
१२. ख गणाया। १३. मिषिण। १४. अधगत:। १५. ख. ०अवधूतस्त्वं।
१६. ०चार्याया०। १७. ख. चर्याय।

प्रकटितपरमभक्तिपृथिवीसुखदायो[1], करवरवीणाहरिगुणगायी[2] ।
श्रीरघुवर नारदरूप ! जय जगदीशपते ॥२१॥

प्रकटितेति। हे जगदीशपते नारदरूप श्रीरघुवर ! प्रकटिता परमा भक्तिर्येन स चाऽसौ पृथिवीसुखदायी च पृथिवीसुखदानशील:, करे वरवीणया [3]हरेर्भक्तार्त्ति-हारकमत्स्यादिनिजरूपस्य गुणानां गायी गानशीलस्त्वं[4] जय । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्— मह्यमपि प्रेमलक्षणां भक्तिं देहीति । तेन च रासानुभावकग्रन्थकरणोत्कण्ठा व्यज्यते । तेन च ग्रन्थस्य प्रेमसाध्यत्वमिति ॥२१॥

क्रतुकलनाय कलावपि विभजसि वेदम्, कृतपुराणधृतभावविभेदम् ।
श्रीरघुवर शुकपितृरूप ! जय जगदीशपते ॥२२॥

पूर्वमृषभाज्ज्ञानप्रार्थनं, तदनन्तरं प्रेमभक्तेरिदानीं ज्ञानसहितप्रेमभक्ति प्रार्थयन्नाह—क्रतुकलनायेति । त्वं कलौ कलियुगेऽपि, क्रतूनां[5] कलनाय रचनाय, कृतेषु पुराणेषु धृतो भावस्याभिप्रायस्य विभेदो यत्र कर्मणि तद्यथा तथा, वेदं विभजसि । शुकस्य पितुः व्यासस्य रूपं यस्य तत्सम्बुद्धिः हे श्रीरघुवर ! त्वं जय । अत्र ज्ञानभक्तिसहितशुकजनकत्वेन व्यासस्य ज्ञानभक्तिप्रदानसामर्थ्यं[6] व्यज्यते। तेन च मह्यपपि तदुभयं देहीति ॥२२॥

सारासारवियुजमवयन्ति[7] यमेकम्, [8]परिहृतजलजनिजनुरविवेकम् ।
श्रीरघुवर हंससुरूप ! जय जगदीशपते ॥२३॥

सारासारेति । हे जगदीशपते हंससुरूप श्रीरघुवर ! परितो हृतो दूरीकृतो जलजनेः कमलाज्जनुर्यस्य[9] तस्य ब्रह्मणोऽविवेको येन स तं, सारासारयोर्वियुजं पृथक्कर्त्तारं, यमेकं मुख्यमवयन्ति जानन्ति ज्ञानिन इति शेषः। स त्वं जय। एतेन हे भगवन् ! ब्रह्मा मम मताचार्यो भवति, तदज्ञाननाशकत्वेनाचार्यस्याप्याचार्यस्त्व-मिति[10] व्यज्यते । तेन च ममाऽप्यज्ञानं दूरीकृत्य मद्धृदये रघुनन्दनरासवर्णनं शोधयित्वा प्रकटयेति ॥२३॥

---

१. ख. ०बाई । २. ख. ०गाई । ३. ख. हरेर्भक्तार्क्षो० । ४. ख. गाण० । ५. ख. क्रतना । ६. ख. ०समर्थ्यं । ७. ०विधुजमव० । ८. ख. परिह्वजल० । ९. ख. ०जनुर्पश्य स । १०. ख. तदज्ञानिनाशकत्वेन चार्यस्याख्याचार्यस्त्वमिति ।

कृतसनकादिकनामनिहतभवजालः, भजननिबन्धनबोधविशालः[1] ।
श्रीरघुवर बालसुरूप ! जय जगदीशपते ॥२४॥

कृतेति । कृतैः सनक आदिर्येषां तैर्नामभिः सनकसनन्दनसनातनसनत्कुमाररूपैः निहतो नाशितो भवजालः संसारजालो[2] येन सः, भजनस्य निबन्धनस्तद्रीतिप्रवर्त्तकः[3] बोधेन ज्ञानेन विशालः विशेषेण शोभमानः, ईदृशबालसुरूप श्रीरघुवर ! त्वं जय। भजननिबन्धनेत्यनेन पूर्वं चतुर्विंशत्यवतारवर्णनरूपं तव भजनं मया यथायथं क्रियमाणं न भवेत्तर्हि त्वमेव स्वप्रापकं कञ्चिदुपायं बोधय । भवति[*] चेन्मत्प्राथितं सफलयेति व्यज्यते । तेन च भजने कृतेऽपि स्वस्य हर्यप्राप्तिशङ्केति तेन च त्वयैव सर्वं कार्य्यमिति । तेन च स्वस्य पारतन्त्र्यमिति[5] ।

ईशमहेश्वरपर साकेतविहारी, वरविविधावतारविस्तारी ।
जनविश्वनाथहृदि राम ! जय जगदीश पते ॥२५॥

ईशेति । ईशाः[6] प्रतिब्रह्माण्डं ब्रह्मविष्णुशिवास्तेषामाश्रयतया महः पूज्योऽमितकोटिब्रह्माण्डवलितो[7] महाविराट् [अमितकोटिब्रह्माण्डवलितत्वे प्रमाणम्—

ब्रह्माण्डासंख्यनाथो यो ददर्शोर्द्ध्वमनाथवत् ।
स्थूलात् स्थूलतमः सोऽपि नाम्ना देवो महाविराट् ॥१॥
प्रत्येकलोमकूपेषु विश्वानि निखिलानि च ।
तस्याऽपि तेषां संख्या च कृष्णो वक्तुं न हि क्षमः ॥२॥ इति

ब्रह्मवैवर्त्ते । तस्येश्वरस्तत्कारणभूतं पूर्णब्रह्म तत्र प्रमाणम्—"ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुष" इति, तस्मा][8] त्तनुप्रभारूपात् पूर्णब्रह्मणः पर श्रेष्ठप्रकाशिन्, हे जगदीशपते हे राम ! वरविविधावताराणां विस्तारी, साकेतविहारी अयोध्याविहारी, त्वं जनविश्वनाथहृदि जय निजोत्कर्षं प्रकटय । अत्र[9] ब्रह्मणस्तनु-[10] प्रभारूपत्वे प्रमाणं 'यदद्वैतं ब्रह्म यस्य तनुभेति' ब्रह्मोपनिषत् श्रुतिः ।

एकं चाऽपि परं समस्तजगतां[11] ज्योतिर्मयं कारणं,
प्रागन्ते च विकारशून्यमगुणं[12] निर्नामिरूपञ्च यत् ।

---

१. ख. ०विशालाः । २. ख. ०जाले । ३. ख. ०स्तद्गीतिप्र० । ४. ख. भयति ।
५. ख. पारवंत्र्यमिति । ६. ख. ईशः । ७. ख. ऽमितिकोटिः० । ८. [—] कोष्ठबद्धांशस्थाने ख. पुस्तके 'तस्येश्वरस्तत्कारणभूतं पूर्णब्रह्म तस्मा' इत्ययमंश एव दृश्यते । ९. ख. अत्र ।
१०. ख. ब्रह्मनेस्तनु- । ११. ख जगतं । १२. ख. विकारशन्य० ।

तच्छ्रीरामपदारविन्दनखरप्रान्तस्य तेजोऽमलं,
प्रज्ञावेदविदो वदन्ति परमं तत्त्वं परं नाऽस्त्यतः ॥

इति । [1]**पारमहंस्यपरमसिद्धान्तसंहितायाम्** ।

नखेन्दुकिरणश्रेणीपूर्णब्रह्मैककारणम् ।
केचिद् वदन्ति तस्यांशं ब्रह्म चिद्रूपमव्ययम् ॥
तदंशांशं[2] महाविष्णुं प्रवदन्ति मनीषिणः ।

इति **पद्मपुराणीयवृन्दावनमाहात्म्ये** च । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—हे भगवन्ननिर्वचनीयतयाऽन्यैरकथनीयां[3] निजरहस्यलीलां मद्धृदये विद्यमानः स्वयमेव मन्मुखेन वर्णयेति । तेन च तल्लीलाया अपि सर्वोत्कृष्टत्वमिति । वरविविधावतारविस्तारीति विशेषणेऽनुक्तानामपि नारायणादीनामवतारी रघुनन्दन इति भावः । प्रमाणं चाऽत्र **पद्मपुराणस्य वाल्मीकीयरामायणस्य** च वचनं यथाक्रमं बोध्यम् । तथाहि—

"पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः ।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्[4] सुविग्रहम् ॥
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले ।
हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात् ॥ इति ।

"स्वयं नारायणो भूत्वा वैकुण्ठं याति राघव" इति
पुनरेव मया दृष्टो रामो रमतां वरः ।
विष्णुरेव स्वयं भूत्वा तस्मिन्नास्ते वरासनः ॥"

इति च । ननु सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परमात्मन इति नैव प्रकृतिजाः क्वचिदिति 'पूर्णमदः पूर्णमिदमि'त्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः । मीनाद्यवतारा नारायणादयश्च सर्वे नित्याः पूर्णा एवाऽतो विविधावतारविस्तारीति पदस्य रघुनन्दन एव मीनाद्यवतारो भूत्वा तत्तत्कार्यं विधाय स्वस्मिंल्लीयत इत्यर्थोऽभिप्रेतश्चेत्तर्हि मत्स्यादीनामष्टभुजानां चतुर्भुजानां द्विभुजानां चाऽभिन्नांशरूपाणामनित्यताप्रसङ्गः स्यात् । अन्यच्च—एक एव रामो भावुकैर्भावनानुगुणरूपो दृश्यत इति चेत्तर्हि तद्रूपस्य काल्पनिकत्वं स्यात् । किञ्च विविधशब्देन[5] सूचितानां[6] ब्रह्मदुर्गाभैरवादीनां भिन्नांशानामपि वेदपुराणतन्त्रेषु नित्यत्वं

१. ख. परमसंस्य० । २. ख. तदंशासं । ३. ख. ०रकथनी । ४. ख. भोक्त० ।
५. ख. विपर्यशब्देन । ६. ख. सूचिता ।

परत्वं जगदुत्पत्तिस्थितिलयकर्तृत्वं चोक्तम्[1]। कृते परिकार्यं[2] विधाय श्रीरघुनन्दन लीना भवेयुस्तर्हि तेषामनित्यतया वेदादीनामपि मिथ्याकथनप्रसङ्गः स्यादि चेत्सत्यम्। यतः साकेते श्रीरघुनाथ[3] एव मीनाद्यवताराणां नारायणादीनां रूपेण [4]स्वकीयद्विभुजं राजरूपं सेवतेऽत एव तेऽभिन्नांशाः साकेतनिवासिश्रीरघु नन्दनसेवकत्वेन भिन्नांशाः ब्रह्मदुर्गाभैरवा[दयो] देवता अपि नित्याः, तस्मा दरविविधावतारविस्तारीत्यत्राऽयमाशयः। साकेते श्रीरघुनन्दनः स्वावरणगतान वतारानाज्ञाप्य[5], कार्य्यं कारयित्वा पुनस्तदेवावरणं प्राप्य, तैः सेवां कारयति अथवा त एवावताराः श्रीरघुनाथाज्ञया स्वेन स्वेनांशेन तत्तद्ब्रह्माण्डं गत्वा तत्तत् कार्यं विदधति। तदुक्तं शिवसंहितायां हनुमन्तं प्रत्यगस्त्यवचनम्—

आसीनं तमयोध्यायां सहस्रस्तम्भमण्डिते।
मण्डपे[6] रत्नसंज्ञे च जानक्या सह राघवम्॥

मत्स्यः कूर्मः किरिनैको नारसिंहोऽप्यनेकधा।
वैकुण्ठोऽपि हयग्रीवो हरिः केशववामनौ॥

यज्ञो नारायणो धर्मपुत्रो नरवरोऽपि च,
देवकीनन्दनः कृष्णो वासुदेवो बलोऽपि च॥
वृष्णिगर्भो[7] मधुन्माथी गोविन्दो माधवोऽपि च।
वासुदेवोऽपरोऽनन्तः सङ्कर्षण इरापतिः॥

[8]प्रद्युम्नोऽप्यनिरुद्धश्च व्यूहाः सर्वेऽपि सर्वदा।
रामं सदोपतिष्ठन्ते[9] रामादेशव्यवस्थिताः॥

एतैरन्यैश्च संसेव्यो रामो नाम महेश्वरः।
[10]तेषामैश्वर्यदातृत्वात् तन्मूलत्वान्निरीश्वरः[11]॥

इन्द्रनामा स इन्द्राणां पतिः साक्षी गतिः प्रभुः।
विष्णुः स्वयं स विष्णूनां पतिर्वेदान्तकृद्विभुः॥

ब्रह्मा स ब्रह्मणां[12] कर्त्ता[13] प्रजापतिपतिर्गतिः।
रुद्राणां स पती रुद्रो रुद्रकोटिनियामकः॥

चन्द्रादित्यसहस्राणि रुद्रकोटिशतानि च।
अवतारसहस्राणि शक्तिकोटिशतानि च॥

---

१ क. नास्ति। २. ख. स यदि कार्यं। ३. ख. रघुवरनाथ। ४. ख. स्वकीयं। ५. ख. स्ववरण०। ६. ख. मण्डप। ७. ख. पृष्णिगर्भो। ८. क. प्रद्युम्नोऽनिरुद्धश्च। ९. ख. सद्योतिष्ठते। १०. ख. तेषामैसूर्य०। ११. तन्मूत्रत्वा०। १२. ख. ब्राह्मणं। १३. ख. कर्त्ता।

ब्रह्माकोटिसहस्राणि दुर्गाकोटिशतानि च ।
महाभैरवकालादिकोट्यर्बुदशतानि च ॥
गन्धर्वाणां सहस्राणि देवकोटिशतानि च ।
सभां[1] यस्य निषेवन्ते स श्रीराम इतीरितः ॥

इति । श्रुतिश्च 'देवानां पूरयोध्या' तत्सद्ब्रह्ममया दिव्यरत्नकोशाढ्या तस्यां नित्यमेव सीतारामयोर्विहारस्थलमस्तीति अथर्वण उत्तरार्द्धे ॥२५॥

मीनाद्या दधते तनूर्दलयते दैत्यान् सतो रक्षते,
धर्मानाचरते स्मृती रचयतेऽधर्मं निराकुर्वते ।
भक्तान् भावयते यशो जनयते बाणान् धनुर्बिभ्रते,
साकेतप्रमदावने विहरते रामाय तुभ्यं नमः ॥१०॥

[2]उक्तावताराणामवतारिणश्च वर्णनमुपसंहरति मीनाद्या इत्यादिना । मीनाद्यास्तनूर्दधते पोषयते । शेषं स्पष्टम् । मीनाद्या दधते तनूरिति विशेषणेनाऽवतारा उक्ताः । शेषैर्विशेषणैः कर्म्माण्युक्तानि । अत्र [3]वर्त्तमानकालबोधकशतृप्रत्ययेन नामरूपलीलादीनां नित्यता व्यञ्जिता । तेन च तेषामपि तद्रूपत्वमिति ॥१०॥

ललितालीगणमण्डित रसपण्डित हे !
चपलचटुलमणिमाल जय जय राम हरे ॥१॥

अथाऽवतारिणं श्रीरघुनन्दनं स्तौति ललितेति । ललिताः याः आल्यः सख्यस्तासां यो गणः समूहस्तेन मण्डितः भूषितः तत्सम्बुद्धिः, रसे प्रकृतत्वाच्छृङ्गारे[4] पण्डितस्तत्सम्बुद्धिः, चपला चटुला मनोहरा च मणीनां माला यस्य तत्सम्बुद्धिः । एतेन रासं कुर्वतो रघुनन्दनस्येयं स्तुतिरिति व्यज्यते । तेन च कविमानसेऽन्यलीलाभ्यो[5] रामलीलायाः[6] प्राधान्यम् । ईदृश हे हरे ! भक्तानां रासाननुभवरूपक्लेशनाशनेत्यर्थः । हे राम ! रमन्ते सख्योऽस्मिन्निति रामः । एतेनाऽनेककोटिसखीरमणशीलत्वं व्यज्यते । तेन च तस्य दक्षिणनायकत्वम् । अथवा रमन्ते ब्रह्माण्डानि यत्र अनेककोटिब्रह्माण्डाधारेत्यर्थः । त्वं जय जय निजोत्कर्षं प्रकटय । जय जयेत्यादरे वीप्सा । अत्र पूर्वगीतध्वनिर्ज्ञेयः ॥१॥

---

१. ख. सभा । २. ख. उक्ताउत्तराणा० । ३. ख. बर्त्तमान० ।
४. ख. प्रकृतत्वाच्छंरे । ५. ख० ऽन्यलीभ्यो । ६. ख. राशलीलायाः ।

क्षितिनृपमण्डलमण्डन खलखण्डन हे !
समुद्दण्डकोदण्ड जय जय राम हरे ! ॥२॥

क्षितीति । क्षितौ नृपाणां मण्डलं समूहं मण्डयति भूषयति तत्सम्बुद्धिः, खलान् दुष्टान् खण्डयतीति तत्सम्बुद्धिः, सम्यगुद्दण्डः कोदण्डो धनुर्यस्य तत्सम्बुद्धिः। क्षितिनृपमण्डलमण्डनेत्यनेन हे भगवन् ! ममाऽपि खलव्यतिरिक्तनृपान्तर्गतत्वेन मण्डनं करिष्यस्येवेति । तेन च मन्मुखोद्गतग्रन्थमण्डनं कुर्विति व्यज्यते। [समुद्दण्डकोदण्ड इत्यत्र रघुनन्दनस्य सदा रक्षोद्युक्तत्वम् । तेन च ममाऽपि सर्वथा रक्षां विधेहीति प्रार्थना व्यज्यते][1] ॥२॥

हतदूषण खरदूषण भवभूषण हे !
[2]दशमुखगजमृगराज जय जय राम हरे ! ॥३॥

हतेति । हतौ दूषणदोषरूपौ[3] खरदूषणनामानौ राक्षसौ येन तत्सम्बुद्धिः, भवस्य संसारस्य भूषणमलङ्कारस्तत्सम्बुद्धिः, दशमुखो रावणः स एव गजस्तत्र[4] यो मृगराजः सिंहस्तत्सम्बुद्धिः, ईदृश । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—यथा रावणसम्बन्धिनो दूषणादीन् हत्वा, दिव्यरूपं दत्वा रावणो निजसेवको विहितस्तथा खरदूषणसदृशान्मम मनसो भ्रमादिदोषान्नाशयित्वा दशेन्द्रियाणि मुखानि निर्गमद्वाराणि भुक्तिद्वाराणि वा यस्य तद्दिव्यरूपं विधाय निजरूपासक्तं[5] कुर्विति । तेन च बहुसाधनसम्पत्तौ सत्यामपि भवत्कृपां विना मनसः[6] शुद्धिर्न जायत इति ॥३॥

सकलचराचररोचन हृतशोचन हे !
मुनिकुलकुशलनिदान जय जय राम हरे ! ॥४॥

सकलेति । सकलं यच्चराचरं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् तद् रोचयति प्रकाशयति इति सः तत्सम्बुद्धिः, अथवा सकलस्य चराचरस्य रोचनमभिप्रीतिर्यस्मिन्, हृतं शोचनं शोको येन तत्सम्बुद्धिः, मुनीनां[7] मननशीलानां[8] यत्कुलं समूहस्तस्य कुशलस्य भुक्तिमुक्तिरूपस्य निदानं आदिकारण, ईदृश । अत्र सकलेत्यादिपदेन हे भगवन् ! सकलचराचरप्रकाशकस्य तव मद्धृदये ज्ञानप्रकाशनमतिसुकरमिति । तेन च मया स्वीयरहस्यवर्णनं कारयेति व्यज्यते ॥४॥

---

१. [—]. कोष्ठान्तर्गतोंऽशो नाऽस्ति ख. पुस्तके । २. एतत्पादस्थाने क.पुस्तके 'मुनिकुलकुशलनिदान जय जय राम हरे !' इत्यस्ति । ३. ख. दूषणे दोषरूपौ । ४. क. गतस्तत्र । ५. ख. ०शक्तं । ६. ख. मानसः । ७. ख. मुनानां । ८ ख. मुनन० ।

सान्तानकजनचन्दन रघुनन्दन हे !
बहुकृतललितविलास जय जय राम हरे ! ॥५॥

सान्तानकेति । सान्तानके साकेते[1] ये जनास्तेषां चन्दन आह्लादक, यथा चन्दनो मलये स्वसमीपस्थान्[2] वृक्षांश्चन्दनीकरोति तथा त्वमपि साकेतजनान् स्वसदृशान् करोषीति भावः । हे रघुनन्दन ! बहवः कृता ललिताः मनोहराः विलासाः येन तत्सम्बुद्धिः । अत्र प्रथमविशेषणद्वयेन यथाक्रमं गुप्तप्रकटलीले[3] व्यज्येते । तेन च तयोरानन्दरूपतेति चरमविशेषणेन च हे भगवन्निदं मत्कृतं काव्यमपि ललितविलासवद् विधेहीति व्यज्यते ॥५॥

वरविलसितनखचन्दिर सुखमन्दिर हे !
श्रीमुखकमलमिलिन्द जय जय राम हरे ॥६॥

वरेति । वराः श्रेष्ठाः विलसिताः शोभिताः नखरूपिणश्चन्दिराश्चन्द्रमसो यस्य तत्सम्बुद्धिः, नखचन्द्राणां वरत्वं च निष्कलङ्कत्वेन[4] ज्ञातव्यम्, सुखस्य मन्दिर अथवा सुखं सुखरूपं ब्रह्म तदेव मन्दिरमयोध्यारूपं निवासस्थानं[5] यस्य तत्सम्बुद्धिः, तत्र प्रमाणम्—'अयोध्या च परं ब्रह्मेति' । श्रियो जानक्या मुखमेव कमलं तत्र मिलिन्द । अयं भावः—यथा मधुकरः कमलं सेवते तथा भवाननवरतावलोकनेन जानकीवदनमिति । 'श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्येति' **वाल्मीकीयरामायणोक्तेः** श्रीपदं जानकीवाचकम् । अथ प्रथमेन विशेषणेन ध्यानिनां हृदयान्धकारनिवर्त्तकत्वं, द्वितीयेन त्वन्निवासाद्धृदयस्य[6] सुखरूपत्वं, तृतीयेन तदनुकूलत्वं रसग्राहकत्वं च । तेन च मम काव्यकुसुमस्य रसं गृहाणेति[7] व्यज्यते ॥६॥

पदपद्मे प्रणतानव जितदानव हे !
परमानन्दसुरूप जय जय राम हरे ! ॥७॥

पदपद्म इति । हे जितदानव ! तव पदपद्मे प्रणतानस्मान् भक्तानव रक्ष । परमानन्द[8] एव शोभनं रूपं यस्य, ईदृश हे हरे राम ! जय । अत्र प्रथमेन विशेषणेन रघुनन्दनस्य त्रैलोक्यरक्षणसामर्थ्यम् । तेन च हे भगवन् ! तव चरितवर्णने[9] दानवसदृशान् विघ्नान्[10] विनाशय मां रक्षेति व्यज्यते । द्वितीयेन ममोक्तिमपि परमानन्दरूपं विधेहीति व्यज्यते ॥७॥

---

१. ख ते । २. ख. स्यसमी० । ३. ख. ०प्रगटलीले । ४. ख. विष्कल० । ५. ख. निसख्यानं । ६. ख त्वन्निवासा हृदयस्य । ७. क. गृहाणेति । ८. ख. परमानं । ९. ख. बर्णनि । १० ख विधान् ।

विश्वनाथजनरक्षणसुविचक्षण हे !
समनिगमागमगीत जय जय राम हरे ॥८॥[1]

विश्वनाथेति । विश्वनाथनामा चाऽसौ जनस्तव भक्तस्य रक्षणे सुविचक्षणेति निपुणस्तत्सम्बुद्धिः, अथवा विश्वनाथाश्च ते जना ब्रह्मादयश्च तेषां रक्षणे सुविचक्षण, समे सर्वे ये निगमा वेदाः, आगमाः शास्त्राणि, तैर्गीतस्तत्सम्बुद्धिः । अत्र काव्ये समेत्यादिना सकलनिगमागमाविरुद्धमेव मन्मुखेन कथयिष्यसीति । तेन ग्रन्थस्य सर्वादरणीयत्वं व्यज्यते । इहाऽष्टपद्याऽस्य नायकस्य सुविचक्षणेत्यनेन रक्षणेऽनायासता व्यज्यतेऽत्र गुणा अप्युक्ताः । तथाहि—ललितालीगणमण्डितेति पदेन काकुत्वम्, रसपण्डितेति पदेन वैदग्ध्यम्, क्षितिनृपेत्यादिपदेन महाभाग्यत्वमर्थवत्त्वञ्च, दशमुखेत्यादिपदेन तेजस्विता, भवभूषणेति पदेन सौन्दर्यम्, हृतशोचनेति पदेन धार्मिकत्वम्, रामेति पदस्य द्वितीयार्थेन धुरन्धरता, मुनिकुलेत्यादिपदेनोदारता, रघुनन्दनेति पदेन महाकुलीनता, समनिगमेत्यादिपदेन कीर्त्तिरिति ॥८॥

अतिचञ्चलकामिनीकटाक्षाकलनाकूतकलाकुलस्वरूपा ।
पररासविलासभासिनो वोऽभिमतं दाशरथेर्ददातु[2] दृष्टिः ॥११॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार-श्रीविश्वनाथसिंहविरचिते[3] सङ्गीतरघुनन्दने
मङ्गलाचरणं नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

अतिचञ्चलेति । परैरुत्कृष्टै रासविषयकविलासैर्भासिनः[4] शोभमानस्य[5] दाशरथेः श्रीरघुनन्दनस्य दृष्टिः वः युष्मभ्यमभिमतं ददातु । कीदृशी दृष्टिः ? अतिचञ्चलाः । ये कामिनीनां कटाक्षास्तेषामाकलनायां स्वीकारे आकूतकलया शृङ्गाररसीयचेष्टाविशेषेण आकुलं स्वरूपं यस्याः सा रघुनाथप्रकाशकत्वं रासस्य[6] परत्वे हेतुः । अत्राऽतिचञ्चलेत्यादिना रघुनन्दनस्य सखीनां च रासोत्कण्ठा व्यज्यते । तेन च पूर्णशृङ्गाररसोदय इति ॥११॥

इतिः सिद्धिश्रीमहाराजाधिराजश्रीमहाराज-श्रीराजाबहादुररामचन्द्रकृपापात्राधिकारि-
विश्वनाथसिंहदेवकृतायां व्यंग्यार्थचन्द्रिकाभिधायां
सङ्गीतरघुनन्दनटीकायां मङ्गलाचरणं नाम प्रथमः सर्गः[7] ॥६॥

---

१. क. पुस्तकेऽन्तिमेयमष्टमपदी नैव दृश्यते, नाऽस्ति च तत्र तट्टीका । २ ख. ०र्दातु ।
३. ख. श्रीमहाराजकुमार श्रीबाबू साहेब श्रीविश्वनाथसिंहदेवकृते । ४. ख. भासिना ।
५. ख. शोभमनस्य । ६. ख. रामस्य । ७. ख. इति सिधः श्रीमहाराजाधिराजश्रीमहाराजाबाहादुररामचन्द्रकृपापात्राधिकारविश्वनाथसिंहजूदेवकृतायां व्यंग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीका सङ्गीतरघुनन्दन प्रथमः सर्गः ॥१॥

[अथ द्वितीयः सर्गः]

सुखदसमीरे सरयूतीरे विलसति ललितनिलयनम् ।
काञ्चनशालं मणिमयजालं मन्ये मदनमुदयनम् ॥१॥

एवं मङ्गलाचरणं विधाय सङ्गीतरघुनन्दनं काव्यं प्रकटयति[1] । सरयूतीरे भवनरामं वर्णयिष्यन् संक्षेपतो भवनवर्णनं करोति सुखदेत्यादिना । सुखदः समीरो वायुर्यत्र तत्र सरयूतीरे यल्ललितनिलयनं सुन्दरभवनं, विलसति शोभते, तन्मदनस्य कामस्य मुदयनमानन्दगृहं मन्ये । कीदृशं तत् ? काञ्चनस्य सुवर्णस्य शालः[3] प्राकारो[4] यस्य तत्, पुनश्च मणिमयानि जालानि गवाक्षाः अथवा धीवर-जालाकारचित्ररचनाविशेषा यत्र तत् । अत्र विलसतीति वर्त्तमानक्रियया धाम्नो नित्यत्वम् । तेन च रासलीलाया नित्यता व्यञ्जिता । सुखदपदेन शीतलत्व[5] मन्दत्वं सुगन्धित्वं च पवनस्य व्यञ्जितम् । १॥

चन्दनचर्चितकुसुमसमर्चितमहीपरमरमणीयम् ।
चन्द्रसुचुम्बितचन्द्रकान्तचयचलितसलिलकमनीयम् ॥२॥

चन्दनेति । पुनः कीदृशं तत् ? चन्दनेन[6] चर्चिता लिप्ता कुसुमैः सम्यगर्चिता पूजिता आस्तीर्णेति यावत्, सा चाऽसौ मही च तया परमरमणीयम्, पुनश्च कीदृशम् ? चन्द्रेण सुष्ठु चुम्बितः स चाऽसौ चन्द्रकान्तमणीनां चयः समूहस्तस्माच्चलितेन वहता सलिलेन कमनीयम् । अत्र कुसुमसमर्चितपदेन तत्र कोमलास्तरणनैरपेक्ष्यं[7] व्यज्यते । तेन च रासकृतियोग्यतेति । चन्द्रसुचुम्बितेत्यादिपदेन आसेकनैरपेक्ष्य-मास्तीर्णकुसुमानामम्लानत्वं[8] च व्यञ्जितम् ॥२॥

मरकतगोमुखनलिकानिर्गतकुल्याकुलजललाभम्[9] ।
सुखसदनं श्रमकदनं सरसीकलितकमलललिताभम् ॥३॥

मरकतेति । पुनः कीदृशम् ? मरकतस्य हरिन्मणेर्या गोमुखनलिका गोमुखा-काराणि जलयन्त्राणि ताभ्यो निर्गतस्य कुल्याकुलेषु त्रिमाल्यसरित्समूहेषु जलस्य लाभो यस्मिंस्तत्, पुनः कीदृशम् ? सुखसदनं सुखस्य निवासस्थानं अथवा

---

१. ख. प्रकटयन् । २. ख. नास्ति । ३. ख. शाला । ४. प्रकारो । ५. ख. शीलत्वं ।
६. ख. चन्दने । ७. ख. कोमलारण० । ८. ख. ०कुसुमानामलानत्वं ।
९. क.ख. ०कुल्माकुलजल० ।

सुखरूपमेव सदनं, पुनः कीदृशम् ? सरसीषु तत्र विहारार्थे[1] निर्मिततडागे कलितानि व्याप्तानि कमलानि तैर्ललिता ग्राभा शोभा यस्य तत्। कुल्याजले त्यादिना तत्र भवने वाटिका व्यज्यते, तेन च तस्य समस्तशृङ्गारोद्दीपनविभाव धिकरणत्वमिति ॥३॥

यदधिकरतिरसपतिरपि[2] कुरुते पश्यन्ननिशनिवासम्।
विश्वनाथनाथोऽपि ससीतस्तनुते रासविलासम् ॥४॥

यदिति। रसपतिः शृङ्गारोऽपि यद्गृहं पश्यन्नधिका रतिः प्रीतिर्यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा, ग्रनिशनिवासं निरन्तरवासं कुरुते। विश्वनाथस्य महादेवस्य मम वा नाथः श्रीरघुनन्दनोऽपि यद्गृहं पश्यन् सीतया सहितः रासविला तनुते विस्तारयति। यदधिकेत्यादिनाऽस्य शृङ्गारगृहादप्याधिक्यं तेन चाऽनुपमत्व व्यज्यते। विश्वनाथेत्यादिना कदाचिदनिच्छोरपि श्रीरघुनन्दनस्य रासकारयितृत्व[3] भवनस्य व्यज्यते। तेन चाऽस्याऽन्येभ्योऽपि रघुनाथगृहेभ्य ग्राधिक्यमिति ॥४॥

गृहे तत्र स्वैरं सह सहचरीभिश्च रमया,
चिर रासक्रीडाप्रणयिनि रमेशे विहरति।
सखी काचिन्नृत्यश्रममपनिनीषुः[4] स्थितवती,
बहिर्वामावारादवददपरामात्मसदृशीम् ॥१॥

गृहे इति। तत्र गृहे रासक्रीडायां प्रणयिनि[5] प्रीतिमति,[6] रमेशे श्रीरघुनन्दने सहचरीभिः सखीभिः, रमया श्रीजानक्या च सह, चिरं बहुकालं, स्वैरं विहरति विहारं कुर्वति सति, नृत्यस्य[7] श्रममपनिनीषुरपनेतुमिच्छुः, वामावारात्[8] वनिता समूहाद्, बहिः स्थितवती काचित् सखी, ग्रात्मसदृशीं श्रमितामपरां[9] सखीमवदत् रमयेतिपदेन रमेश इति पदेन च विहारे सन्तोषाभावो व्यज्यते। तेन च सामर्थ्या तिशय इति ॥१॥

रासे विलसति रसिकशिरोमणिरवलोकय मृगनयने !
[10]रसपतिमण्डितरोचिरखण्डितरसपण्डितसुखचयने ॥१॥

ईदृशानन्दजनकरासतः श्रमो मां निःसारितवान् इति श्रमनिन्दां व्यञ्जयन्ती

---

१. ख. विहारार्थं। २. ख. ०रविकुरुते। ३. ख. रासकारयितृत्वं। ४. क. ०श्रममनिनीषुः ५. ख. प्रणयिमि। ६. ख. श्रीतिमति। ७. क. नृपस्य। ८. ख. वामाचारात्। ९. क. ०मपराः। १०. क. रसपण्डितमण्डित०।

यद्वा यदि श्रमो मां निःसारयेत्तदा सम्पूर्णरासस्याऽपूर्वशोभां कथं पश्येयमिति श्रमस्तुतिं व्यञ्जयन्ती सखी वर्त्तमानरासमङ्गुलीनिर्देशेन वर्णयति—रास इत्याद्यष्टपद्या रास इति । हे मृगनयने ! त्वं विलोकय, रसिकानां शिरोमणिः श्रीरघुनन्दनो रासे विलसति शोभते । कीदृशे रासे ? रसपतिना शृङ्गारेण मण्डितः स चाऽसौ रोचिषा दीप्त्या[1] अखण्डितश्च सः, रसपण्डितस्य श्रीरघुनन्दनस्य अथवा रासे ब्रह्म तत्र पण्डितानामर्थाद् ब्रह्मनिष्ठानां सुखचयनं सुखसमूहो यस्मिन्सः, रसपतिमण्डितरोचिरखण्डितश्चासौ रसपण्डितः सुखचयनश्चसः तस्मिन् । रसपतीत्यादिपदे द्वितीयविशेषणेऽयं भावः—अनेकविधुवदनानां प्रकाशच्छटाभिर्मणीनां प्रकाशाधिक्यमिति[2] । रसपण्डितेत्यादिविशेषणेन ब्रह्मनिष्ठा अपि ब्रह्मानन्दं त्यक्त्वा[3] रासस्मरणानन्दं प्राप्नुवन्तीति व्यज्यते । तेन च रासस्य ब्रह्मानन्दादप्यधिकत्वम् । अत्र कविनिबद्धवक्तृवैशिष्ट्य[4]-जन्यपदप्रधानार्थशक्त्युद्भववस्तुना वस्तुध्वनिः । रासलक्षणं **भागवतसन्दर्भे**—

"नटैर्गृहीतकण्ठीनामन्योन्यात्तकरश्रियाम् ।
नर्त्तकीनां भवेद् रासो मण्डलीभूय नर्त्तनम् ॥" इति

स्कन्दपुराणीयकोशलखण्डे च—

तासां मनोमानविदासहाभिस्तेनेह तेने[5] भुवि हर्षकारी ।
श्रीरङ्गभेदो भुवि रासनामा रामेण तासां सुमनोहरेण ॥
यत्राऽऽस रामो रणरङ्गमूर्त्तिः स रासनामा भुवि केलभेद" ॥इति॥१॥

कीरकेकिकोकिलकोलाहलऋतुकुलललितविलासे ।
कुरबकबकुलकेतकीकैरवकुन्दकदम्बविकाशे ॥२॥

रासशोभाया अनिर्वचनीयत्वेऽपि यथामति वस्तुमात्रं कथयति कीरेति । कीराश्च पालिताः शुकाः केकिनश्च तथा मयूराः कोकिलाश्च ते तेषां कोलाहलो यस्मिन् अथवा तेषां कोलाहल इव कोलाहलो यस्मिन् स तस्मिन् ऋतुकुलस्य ऋतुषट्कस्य ललितो विलासो यस्मिन् स तस्मिन्; कुरवकाश्च बकुलाश्च केतक्यः कैरवाणि च कुन्दानि च कदम्बाश्च ते तेषां विकासः फुल्लनं यस्मिन् स तस्मिन् । एते तरवोऽन्येषां चोपवनतरूणामुपलक्षकाः । कीरादीनां कोलाहलस-

---

१. ख. दीप्ता । २. ख. ०मति । ३. ख. सत्यत्वा । ४. क. ख. वक्तवैशिष्य । ५. ख. नास्ति ।

दृशस्तु तत्र सखीनां मधुरगानवाद्यभूषणकोलाहलो भवति । ऋतुकुलेत्यादिविशे
णेन यदृतुगेय रागमालपति स एवर्त्तुरुदेतीति व्यज्यते । तेन च सखीनां ग
प्रावीण्यातिशयो व्यज्यते ॥२॥

विलसितविपुलपुलकविधुवदनावल्गुविनोदविचित्रे ।
चकितचकोरचक्षुरिह चन्द्र चुम्बति चारुचरित्रे ॥३॥

विलसितेति । विशेषेण लसितानां विपुलाः पुलका रोमाञ्चा या
विधुवदनानां वल्गुभिर्मनोहरैः विनोदैः क्रीडाभिः विशेषेण चित्रे आश्चर्यभू
चारूणि चरित्राणि यस्मिंस्तस्मिन्निह रासे, चकितमाश्चर्यितं च तच्चकोरा
चक्षुश्चन्द्रं चुम्बति अत्यादरेण पश्यतीत्यर्थः । विलसितेत्यादिपदेन तत्र कस्याश्चि
दपि सापत्न्यं नाऽस्तीति व्यञ्जितम् । तेन चाऽत्यानन्द इति । तत्राऽनेकविधुवद
विलोक्य चकितश्चकोर इत्यर्थः । चुम्बतीति पदेन हे मित्र ! भवता[1] कलङ्कः सा
धृतः[2] । स न धृतश्चेत्तर्हीह तव परिचयः कथं स्यादिति व्यज्यते । तेन च सखी
वदनानां पूर्णचन्द्राच्छोभातिशय इति । अत्र कविनिबद्धप्रौढोक्तिजन्यलक्षणमूल
कोऽर्थशक्त्युद्भवो वस्तुना वस्तुध्वनिः ॥३॥

गायति काचन नृत्यति काचन रमयति काचन रामम् ।
काऽपि च नटयति काऽपि च घटयति काऽपि च पटयति कामम् ॥४

गायतीत्यादि । काऽपि च सखी रामं नटयति नर्त्तयति, काऽपि च सखी घट
यति, तेन नृत्यविषयिणीं चेष्टां कारयति । अयं भावः—हे प्रियतम ! रासक्रीडाय
तव स्वाम्यं न भवति, त्वयाऽप्यस्मत्सङ्गे नृत्यतामिति । काऽपि च कामं यथेच्छ
पटयति प्रवीणयतीत्यर्थः । शेषं स्पष्टम् । एतेन सर्वासां स्वाधीनपतिकात
व्यज्यते । तेन च श्रीरघुनन्दनस्याऽतिरसिकत्वमिति ॥४॥

जितविधुरघुवरवदनविकाशितवदना काऽपि नटन्ती ।
अकलि कलानिधिदर्शनमुद्रितमुखकमलानि हसन्ती ॥५॥

जितेति । जितो विधुर्येन तत्, तच्च तद्रघुवरवदनं तत्, तेन विकाशितं वदन
यस्याः सा, काऽपि सखी नटन्ती नृत्यन्ती सती, कलानिधिदर्शनेन मुद्रितानि[3]
मुखानि येषां तानि कमलानि हसन्तीव, अकलि विचारिता सखीभिरिति शेषः ।
अत्र हसन्तीवेत्युत्प्रेक्षया हे कमलानि ! यन्निरीक्ष्य यूयं मुद्रितानि भवथ । स

---

१. ख भता । २. धृता: ३. क. नास्ति ।

चन्द्रोऽपि येन रामचन्द्रमुखचन्द्रेण जितो मुद्रितो भवति, तं[1] निरीक्ष्य विकासितानामस्मदीयमुखकमलानां समतेच्छा युष्माकं वृथैवेति तस्या अभिप्रायो व्यज्यते। तेन च सखीनां चातुर्य्यातिशय इति । अत्र वाच्यवैशिष्टयजन्यः पदप्रधानोऽर्थशक्त्युद्भव उत्प्रेक्षालङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।।५।।

रमणीमण्डलमिह कुण्डलितं नृत्यति गतिसङ्गीतम् ।
गायति सरति सीतया साकं श्रीरामो रसगीतम् ।।६।।

रमणीमण्डलमिति । इह रासे, कुण्डलितं हस्तेन हस्तं गृहीत्वा कुण्डलवदाचरित, रमणीमण्डलं गत्या सङ्गीतं नृत्यति, श्रीरामः सीतया साकं सरति, सप्रीति यथा भवति तथा रसस्य शृङ्गारस्य गीतं शृङ्गाररसानुभावकं गीतमित्यर्थः, गायति । अत्र सीतया साकमिति वाक्येन रघुनन्दनेन सह विहरन्तीरन्याः सखीरालक्ष्याऽपि श्रीजानक्याः मत्सराभावो[2] व्यज्यते । तेन च तस्या[3] उत्तमस्वकीयात्वमिति ।।६।।

मलयजलेपितललितकलेवरवलितवेणुवनमाली ।
चलदलकालिविलोकनपुलकितसकलालीगणशाली ।।७।।

अथ श्रीरघुनन्दनं विशिनष्टि मलयजलेपितेत्यादिना । मलयजेन लेपितं ललितं सुन्दरं कलेवरं देहो यस्य सः, वलितः सप्तस्वरमूर्च्छितो वेणुर्यस्य सः, स च सः स चाऽसौ वनमाली चेति विशेषणत्रयस्य कर्मधारयः । वेणुधारणमुक्तं लघुकोशलखण्डे—

"आजुहाव स सीतेशः सर्वास्ताः जगदीश्वरः ।
गानेन वेणुना साकं सर्वचित्तापहारणेति ।

पुनश्च कीदृशः ? चलन्ती या अलकानां चूर्णकुन्तलानामालिः पङ्क्तिः, तस्या विलोकनेन पुलकितो[4] रोमाञ्चितो य आलीनां सखीनां गणः समूहस्तेन शाली शोभितः । मलयजलेपितेति पदेन माधवमासिकरासो व्यञ्जितः । तेन च मासि मासि रासो भवतीति । उक्तञ्च बृहत्कोशलखण्डे—

हेमन्तः शिशिरः शरच्च नितरां रामस्य नित्यप्रियाः,
सीतायाश्च वसन्त आत्मविभवैः प्रावृण्निदाघोऽपि च ।
हेमन्तादिषु सम्भवन्ति विविधा रासाश्च रामप्रियाः,
सीतायाः कुसुमाकरादिषु च ते स्वेच्छानिबद्धा अपि ।।इति।।

---

१. ख. नास्ति । २. ख. मत्सरभावो । ३. क. तस्य । ४. ख. पुलिकिता ।

अत्र चलदलकालीत्यादिपदेन कस्याश्चिद् गोप्यक्रियायाः[1] स्मरणं व्यञ्जितम् । तेन च तस्याऽतिसामर्थ्यमिति ॥७॥

वीणामिलितरेणुरणितश्रुतिरघुवरगीतसुवर्णे ।
विश्वनाथ इति वदति कामिनी मुह्यति निपतति कर्णे ॥८॥

वीणेति । वीणासु मिलितं वेणो रणितं शब्दः श्रुतयश्च सङ्गीतशास्त्रप्रसिद्धा यस्मिन्, स चाऽसौ रघुवरगीतस्य सुवर्णः शोभनोऽक्षरश्च तस्मिन्, कर्णे निपतति सति कामिनी मुह्यतीति । विश्वनाथो महादेवः कविर्वाऽनुभूय वदति । कामिनीकर्णे वर्णे इति जातावेकवचनम् । मुह्यतीत्यनेन हे सखि ! त्वमपि मोहं प्राप्ता, किं वा मदुक्तिं शृणोषीति व्यज्यते । विश्वनाथ इति यदतीत्यनेन श्रीरघुनन्दनरासीय-सख्युक्त्येदं सङ्गीतरघुनन्दनं नाम काव्यं यदा-यदा लुप्तं भवति तदा-तदा श्रीरघुनन्दन एव मन्मुखात्प्रकटयतीति व्यज्यते । तेन चाऽस्य काव्यस्याऽनादिसिद्धत्वमिति ॥८॥

इति सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंह-कृतायां
व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीकायां द्वितीयः सर्गः ॥२॥[2]

[अथ तृतीयः सर्गः]

[मालतीलवङ्गवल्लयः, कुसुमिताः किशलयसम्भारनताः कूजन्मधुमत्तकोकिला गुञ्जत्षडङ्घ्रिनिकराः शीतलमन्दसुगन्धिसमीरणोल्लासिताः पादपालिङ्गनोत्सुका नितान्तकान्ताभिसरणोद्यता वनिता इव लता यत्र विलसन्ति तस्मिन् वसन्तागमे वनोपवनवाटिकासु विहरति वलयितवधूव्रजवलितविलाससमुल्लासितमानसे मान-शोकापनोदनचतुरे मनोनन्दन इव जनकनन्दिनी [सहिते] श्रीरघुनन्दन आलपति युगलप्रेमपरिपूर्णो विश्वनाथो वसन्तरागमिमम्—स स नि नि ध ध गम धध नि सास ग ग रि ससनिधमनी धा प मागा इति ॥१॥][3]

---

१. ख. गोप्यप्रियायाः । २. ख. इति सिद्धः श्रीमन्महाराजाधिराजा श्रीमहाराजाश्रीराजा-बहादुरसीतारामचन्द्रकृपापात्राधिकार—विश्वनाथसिंहकृतायां व्यंग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीकायां द्वितीयः सर्गः ॥२॥ श्रीमते रामानुज । ३. [—] कोष्ठबद्धोऽयमंशः क. पुस्तके नाऽस्ति ।

अथ गद्यप्रबन्ध इति । प्रबन्धलक्षणं सङ्गीतशास्त्रे ज्ञेयम् । आदरेण शृण्वन्तीं ज्ञात्वा पुनराह—मालतीत्यादीनां[1] सञ्जातानि[2] कुसुमानि यासु ताः, किशलयानां सम्भारेण नताः नम्राः, कूजन्तो मधुना मकरन्देन मत्ताः 'कोकिलाः यासु ताः[3]', गुञ्जन्तः षडङ्घ्रीणां भ्रमराणां निकराः समूहा यासु ताः, शीतलो मन्दः सुगन्धिः स चाऽसौ समीरणो वायुस्तेनोल्लासिताः, पादपानां[4] वृक्षाणामालिङ्गनायोत्सुका[5] उत्कण्ठिताः नितान्तमत्यर्थं कान्तानामभिसरणायोद्यता वनिता इव मालतीनां लवङ्गानां च वल्लयः, अन्याश्च लता यत्र विलसन्ति शोभन्ते, तस्मिन् वसन्तागमे वनोपवनवाटिकासु वलयितेन वलयवदाचरितेन वधूनां व्रजेन समूहेन वलितो वृद्धिं गतो यो विलासस्तेन समुल्लासितमुत्साहितं मानसं यस्य तस्मिन्, मानशोकस्याऽपनोदनं दूरीकरणं तत्र चतुरे, मनोनन्दनः कन्दर्पस्तत्सदृशे, जनकनन्दिन्या सहिते, श्रीरघुनन्दने विहरति सति, युगलस्य श्रीजानकीरघुनन्दनरूपयुगलस्य प्रेम्णा परिपूर्णो विश्वनाथः सखीरूपेण प्राप्तो महादेवः, अथवा रासगतरघुनन्दनसेवायोग्यशरीरेण रासमण्डलस्थितः कविः, इम वसन्तरागमालपति । इमं कमित्याकांक्षाया-[6] माह—शशनिनिधध गमधनिशाश ग गरि शशनि धमनी धापमागा इति । [अस्यार्थोऽपि—सेन सह स्वराः ससास्तेषां नो बन्धोऽस्त्यस्मिन्निति, 'नः पुमान् सुगते बन्धे' इति मेदिनी, ससनी रासस्तस्मिन् धो धर्मो गानादिप्रावीण्यं,

> 'धो ना धर्मे कुबेरे च क्लीबन्तं वसुनि त्रिपु ।
> धो धा च ब्रह्म नि ख्यातो धातुः स्याद्धारकेऽपि च ॥'

इति मेदिनी । तं धरतीति धधः सखीगणस्तं गच्छति प्रवर्त्तकत्वेन प्राप्नोतीति धध आचार्यः जानकी तं पः आप सः धमनो गीतज्ञः धमनः शब्दः । अत्रयु प्रत्ययस्य शित्वं निपात्यते, सोऽस्याऽस्तीति प्रशस्तगीतवान् श्रीरघुनन्दनः । अत्र यत्तच्छब्दयोरध्याहारः। कीदृशः ? इधा-इं कामं धुनोति स्वच्छविच्छटया तिरस्करोतीति इधा कामजेता श्रीरामचन्द्रः, औणादिकोऽन्; यद्वा इं कामं दधाति योजयतीति इधा-सखीकामपूरक इत्यर्थः; कन्; पुनः की० मागा माया जानक्या गं गीतं, गं च गां तस्मिन्नित्यनेकार्थध्वनिमञ्जरी, तेन अनिति चेष्टते नृत्यति मागा; यद्वा मा च गं च मागे, ताभ्यां सहाऽनिति चेष्टते इति मागा; अना दन्तादयेति क्विप् । अधधनिसासगरिससनिप स्यात्तथा—अः विष्णुस्तं धरतीति अधः श्रीरघुनन्दनः, अनेकविष्णवाश्रयत्वात्—

---

१. ख मालतीत्यादिना । २. ख. सुजापानि । ३. '—' ख. अयमंशः क. पुस्तके नाऽस्ति । ४. क. पादयादपान । ५. क. वृक्षामालि० । ६. क. ०कांक्षयामाह ।

'ततो विष्णुमयं देवं पूजयन्ति स्म देवताः'

इति श्रीमद्रामायणे विष्णुमयं विष्णुप्रचुरमित्यर्थः । तस्य धनिः शब्दः घनरवे, शासनं शासः स गम्यतेऽनेनेति बाहुलकत्वान्न-विशेषणस्य पूर्वनिपातः । शासगः शब्दः श्रीरघुनन्दनसम्बन्धी सखीजनशिक्षारूपो गानशब्दस्तं गिरति श्रवणानन्तरमन्तःकरणे धारयतीति सः सखीरूपस्तस्य सो गणः 'सो गणः परकीर्त्तित' इत्यनेका०, तस्य सनिः अध्येषणा आचार्यं प्रति प्रार्थना । 'सनिस्त्वध्येषणे' त्यमरः । सा यस्मिन् कर्मणि तत् अधधनिशासगगरिससनि; अथवा विष्णवाश्रयरघुनन्दनसम्बन्धिशब्दशासनरूपगानधारकसखीसमुदायकृतप्रार्थना यस्मिन् प्राप्तिरूपे कर्मणीति । अत्र षड्जर्षभयोरादौ मूर्धन्यस्वरयोः सत्वात् कथं दन्त्यसकारेकारविशिष्टरकारयोरर्थः कृत इति ? न शङ्कनीयं, तयोः संज्ञाशब्दत्वात् । तदुक्तं सङ्गीतरत्नाकरे—

श्रुतिभ्यस्तु स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः ।
पञ्चमो धैवतश्चाऽथ निषाद इति सप्तमः ॥
तेषां संज्ञा सरिगमपधनीत्यपरा मता । इति][1]

एते हि स्वरा वसन्तरागे भवन्ति । शिवस्य सखीत्वमुक्तम्—
कोशलखण्डे—

"रुद्रोऽपि तस्मिन् रमणीस्वरूपो भूपेन्द्रसूनोः परिरम्भणाय ।
तेनादृतश्चागत एव कस्मादेपेन्दुमुख्यत्र विमृश्यतेति ॥"

अत्र पादपालिङ्गनोत्सुका इत्यनेन जडेष्वपि[2] चेतनधर्माचरणम् । तेन च वसन्तस्याघटितघटनापटुत्वं[3] व्यज्यते । यत्र वसन्तसमये अचेतनानामीदृशी चेष्टा तत्र चेतनानां का कथेति भावः ॥१॥

‡विजयेते दम्पती परस्परं सङ्केतभावं सूचयन्तौ, चारुचञ्चलकुन्तलौ, साञ्जननिरञ्जनलोचनखञ्जनमीनमानगञ्जनौ, निजाङ्गरङ्गेण रङ्गभूमिं भूषयन्तौ, होलाखेलाकुतूहलिनौ, कनकमयपत्रभृतरङ्गद्रवसाभ्रकारुणचूर्णपूर्णजतुपात्रक्षेपणतत्परौ, नृत्यन्तौ, जडताकम्पिततनू, सुगीतिसहचरीसन्ताडितपटहप्रोत्साहितौ सस्मितमुखौ, विश्वनाथीयमानसमानसे हंसाविवेमौ विचरन्तौ ॥२॥‡[4]

---

१. [—] 'अस्याऽर्थोऽपीत्यारभ्य सरिगमपधनीत्यपरा मता इती'त्यन्तः कोष्ठगोऽयमंशो नाऽवलोक्यते ख. पुस्तके । २. जनेष्वपि । ३. ख. वसंतस्याः घटितघटितघटना० ।
४. ‡—‡ चिह्नान्तर्गतो नास्त्ययमंशः ख. पुस्तके ।

साञ्जनाभ्यां निरञ्जनाभ्यां च लोचनाभ्यां खञ्जनमीनयोर्मानस्य[1] गञ्जनौ; अत्र साञ्जने लोचने जानक्या निरञ्जने रघुनन्दनस्येति ज्ञेयम्; होला नाम खेला होरीति लोके प्रसिद्धा तस्यां कुतूहलिनौ, कनकमययन्त्रे[2] भृतस्य रङ्गद्रवस्य साभ्रकेणाऽरुणचूर्णेन अबीर इति लोके प्रसिद्धेन पूर्णानि तानि जतुपात्राणि चीनारङ्गफलाकारलाक्षापात्राणि[3] कुमकमा इति लोके प्रसिद्धानि तेषां क्षेपणे तत्परौ, जडतयाऽकम्पिते[4] तनू ययोस्तौ, संगीतिसहचरीभिः सन्ताडितेन पटहेन डफ इति लोके प्रसिद्धेन प्रोत्साहितौ, विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वेद विश्वनाथीय मानसमेव मानसं मानसनाम सरस्तत्र हंसाविव[5] विचरन्ताविमौ जानकीरघुनन्दनौ विजयेते । परस्पर सङ्केतभावं[6] सूचयन्तावित्यनेन मिथो गालिदानं व्यज्यते । साञ्जनेत्यादिपदेन मिथो मुष्टिक्षिप्तरङ्गचूर्णवञ्चनं[7] व्यज्यते । तेन च खेलनेऽतिचातुर्य्यमिति । निजाङ्गरङ्गेणेत्यादिना खेलने यतः श्रीरघुनन्दनो धावति ततो मरकतमणिमयीव, यतश्च जानकी धावति ततः[8] सुवर्णमयीव भूमिर्भवतीत्युत्प्रेक्षा[9] व्यज्यते । अत्र वस्तुनाऽलङ्कारध्वनिः । संगीतीत्यादेरयं भावः—यदा सख्यो[10] गीतौ पटहमातोद्य पराजितोऽसीति गायन्ति तदा पराजयमसहमानः श्रीरघुनन्दनः प्रकर्षेणोत्साहयुक्तो भवति, एवं जानक्यपीति । विश्वनाथीयमानसेत्यादिवाक्येन शिवस्याऽपि शृङ्गारप्रधानैवोपासना व्यज्यते ॥२॥

भृशं विश्राणानां सुखमधिविहारं विषयिणां,
श्रुतो त्वेतत्काव्यश्रवणजनितानन्दमधिकम् ।
समीहेते ज्ञात्वा जनकदुहितुर्भावनमिदं,
वयस्या व्याहारैः श्रवणपथमापूरितवती ॥१॥

एतावत्कथनेन श्रमं निवार्य्य रासं प्राप्तायां सख्यां काचिदन्या सखी जगादेत्याह भृशमिति । विहारे इत्यधिविहारमिति[11] विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । भृशं सुखं विश्राणानां[12] विषयिणामिन्द्रयाणां मध्ये श्रुती श्रवणे तु एतत्काव्यश्रवणजनितानन्दमधिकं यथा तथा समीहेते इच्छतः । इदं जनकदुहितुर्भावनमभिप्रायं[13] ज्ञात्वा वयस्या सखी व्याहारैर्वक्ष्यमाणैर्वचोभिस्तस्याः श्रवणपथमापूरितवती । एतेन सख्या वाग्मित्वम् । तेन च तस्याः समयज्ञत्वं व्यज्यते ॥१॥

---

१. क. खंजनीनयो० । २. ख. कनकमयपात्रे । ३. ख. चनारंग० । ४. ख. जातयाकंपिते ।
५. क. हंसावि । ६. ख. संकेभावं । ७. ख. मुष्टिक्षिप्तरणं चूर्णं० । ८. ख. जतः ।
९. ख. भूमिभवातो० । १०. क. सख्यौ । ११. क. इत्यधिहारमिति । १२. क. विश्राणं ।
१३. ख. ०भावना० ।

विहरति रघुपतिरिह ऋतुराजे,
किशलयकुसुमसमाकुलतरुकुलकोकिलकीरसमाजे ॥१॥

विहरतीति । इह ऋतुराजे ऋतुश्रेष्ठे वसन्त इति यावत्, रघुपतिर्विहरति । कीदृशे ऋतुराजे ? किशलयैः कुसुमैश्च समाकुलेषु व्याप्तेषु तरूणां कुलेषु समूहेषु कोकिलानां कीराः शुकास्तेषां च समाजः समूहो यस्मिन् । अत्र रघुपतिऋतुराज-पदाभ्यां समानशीलत्वम् । तेन च विहारयोग्यता व्यज्यते । अत्राऽष्टपद्यां वाच्यार्थतो वसन्तसम्पत्तिवर्णनं व्यङ्ग्यार्थतश्च रघुराजराज्यवर्णनं करोति । तथा हि रघुपतिराज्ये धनधान्यसम्पन्ने प्रजा अपि नगरादिषु समाजं कुर्वन्तीति । एतेन व्यङ्ग्यार्थेन तासां हर्षातिशय इति ॥१॥

विलसितमञ्जुलवञ्जुलपुञ्जनिकुञ्जमहोज्ज्वलभासे ।
विकसितसारसकुलखगसङ्कुलसरसीसरसोल्लासे ॥२॥

विलसितेति । विलसितेषु शोभितेषु मञ्जुलवञ्जुलपुञ्जानां[1] सुन्दराशोक-समूहानां कुञ्जेषु लतादिपिहितोदरेषु[2] महानुज्ज्वलस्य शृङ्गारस्य भासो यस्मिन् सः तस्मिन्, विकसितैः फुल्लैः सारसकुलैः कमलसमूहैः खगैः पक्षिभिश्च सङ्कुलानां सरसीनां सरसः रसः शृङ्गारस्तेन सहित उल्लासो यस्मिन्सः तस्मिन् । अत्र पूर्वार्द्धे इदं व्यङ्ग्यम्—रघुपतिराज्ये मञ्जुलवञ्जुलकुञ्जसमानि[3] कामोपचारसहितानि भवनानि सन्तीति । तेन च तेषां विहारयोग्यतेति । उत्तरार्द्धे इदं व्यङ्ग्यम्—रघुपतिराज्येऽपि प्रतिभवनं विहारार्थं निर्मिताः गृहदीर्घिकादयो गृहपक्षिणश्च सन्तीति । तेन चोद्दीपनाधिक्यमिति ।

[4]तरलतरङ्गतरणलतिकाततिलीलासुखदसमीरे ।
तरुपरिरम्भणवलितलतावलिवनविकलीकृतधीरे ॥३॥

तरलेति । तरलाश्चञ्चला ये तरङ्गास्तेषां तरणेन लतिकानां ततिषु पङ्क्तिषु लीलया[5] च सुखदः समीरो यस्मिन्[6] । तरलेत्यादिना वायोस्त्रैविध्यं व्यञ्जितम् । तरूणां परिरम्भणेन वलितानां युक्तानां लतानामवलिर्यस्मिन् तेन वनेन विकलीकृता धीरा यस्मिन् स तस्मिन् । [7]तरङ्गेत्यादाविदं व्यङ्ग्यम्—

१. क. मंजलपुंजाना । २. ख. लतादिहितो । ३. मंजुलकुंज० । ४. ख. तरसतरङ्ग० । ५ ख. लीलाया । ६. ख. यस्मिन् स तस्मिन् । ७. ख. तरलतरङ्ग० ।

रघुपतिराज्येऽपि प्रतिभवनं क्रीडातडागेषु क्रीडन्तीनां लतासदृशवनितानां समूहेषु समीरणस्य [1]वस्त्रालकादिचालनरूपा लीला भवतीति । तेन च सखीसमूहनिर्गतत्वान्मन्दत्वं तदङ्गसङ्गात्सुगन्धित्व[2] जलसम्पर्काच्छीतलत्वं चेति । तरुपरिरम्भणेत्यादाविदं व्यङ्ग्यम्—रासादिषु[3] वनिताजनकृतनायकपरिरम्भणश्रवणेन स्मरणेन च धीरा अपि मुनिजना ईदृश्यो भूत्वा वयमपि रासे श्रीरघुनाथालिङ्गनानन्दं कदा लभेमेति व्याकुलीभवन्तीति । तेन च मुनिजनस्य[4] रासप्राप्तिरेव मुख्यं फलमिति ॥३॥

पवनविसारिपरागपटलपटघटितानेकविताने ।
मनसिजमत्तयुवतिजनसङ्गतयुवजनमोदनिदाने[5] ॥४॥

पवनेति । पवनविसारिणो विसरणशीलस्य परागस्य पुष्परजसः पटलः समूह एव पटस्तेन घटितानि रचितानि अनेकवितानानि येन तस्मिन्, मनसिजेन कामेन मत्तैर्युवतिजनैः सङ्गतानां मिलितानां युवजनानां मोदस्याऽऽनन्दस्य निदाने प्रथमकारणे । पूर्वार्द्धे इदं व्यङ्ग्यम्—श्रीरघुपतिराज्येऽपि कुसुमरजःसदृक्षा अतिसूक्ष्मसुगन्धिपीतादिवस्त्रवितानभूषितानि भवनानि सन्तीति । तेन चोत्सवाधिक्यमिति । उत्तरार्द्धे त्विदम् — रघुपतिराज्ये स्वीयाभिः[6] स्वच्छन्दविहरतां स्वास्थ्यकारणं रघुपतिरेवेति । तेन च तेषां विहारे प्रतिबन्धकाभाव इति ॥४॥

[7]विगतपलाशपलाशकुसुमकृतविरहिवह्निसन्ताने ।
पुञ्जितमधुकरगुञ्जितगञ्जितमानवतीगुरुमाने ॥५॥

विगतेति । विगतानि पलाशानि पत्राणि येषां[8] तेषां पलाशानां कुसुमैः कृतो विरहिणां वह्नेः सन्तानो विस्तारो यस्मिन्[9], किंशुककुसुमानि वीक्ष्य विरहिणामन्तर्दाहो भवतीति भावः । यत्र च जडा अपि पत्रवस्त्राणि त्यक्त्वा निरपत्रपा[10] जाताः, का कथा चेतनानामिति भावः । पुञ्जितानां[11] बद्धसमूहानां मधुकराणां गुञ्जितेन शब्देन गञ्जितो नाशितो मानवतीनां गुरुः पादपतनापनेयो मानो यस्मिन् स तस्मिन् । भ्रमरगुञ्जितं श्रुत्वा मानिन्यो मानं विहाय स्वत एव पतीनालिङ्गन्तीति भावः । पूर्वार्द्ध इदं व्यङ्ग्यम्—रघुपतिराज्येऽपि[12]

---

१. ख. वस्त्रालकालिकादि० । २. ख. ०सुगन्धिजत्वं । ३. ख. रसादिषु ।
४. क. मुनिमनस्य । ख, मुनिमननस्य । ५. ख. युवगणमोद० । ६. ख. स्वीयानि ।
७. ख. विगतपलाशकुसुम० । ८. ख. येषां ते । ९. ख. यस्मिन् तस्मिन् तस्मिन् ।
१०. क. ख. निरपत्रया । ११. ख. पुञ्जितां । १२. ख. रघुपतिऽपि ।

प्रतिभवनं चित्रलिखितकुसुमितकिंशुकं निरीक्ष्यमाणास्तेऽपि चित्रलिखिता एव विकलाकृतयो निरीक्ष्यन्त इति । तेन च तत्र दम्पत्योः परस्परमनुरागाधिक्यमिति । उत्तरार्द्धे चेदम्—रघुपतिराज्येऽपि सङ्कुचितावयवा मधुकरा इव रसास्वादका ये नायकास्तेषां गुञ्जितमिवोद्दीपकं वचनमाकर्ण्य मानिन्यो मानं मुञ्चन्तीति ॥५॥

मलयानिलपरिमलितदिशावलिकिशलयललितदुकूले ।
अतिसुकुमारकुसुमशरसारकमारजगज्जयमूले ॥६॥

मलयानिलेति । मलयानिलेन परिमलिताः सुगन्धयो[1] दिशावलेः[2] प्राच्यादिदिक्पङ्क्तेः किशलया एव ललितानि वस्त्राणि यस्मिन् स तस्मिन्, अतिसुकुमाराणामतिकोमलानां कुसुमरूपशराणां सारकस्य प्रक्षेपकस्य मारस्य कन्दर्पस्य यो जगज्जयस्तस्य मूले कारणे । कुसुमशराणामतिकोमलत्वाज्जगज्जयाक्षमेण कामेन वसन्त एव जगज्जाययतीति भावः । पूर्वार्द्धे इदं व्यङ्ग्यम्—महाराजरघुपतिराज्येऽपि वनितानां सुगन्धीनि किशलयवत्कोमलानि दुकूलानि सन्तीति । तेन च तत्र दारिद्र्याभाव इति । उत्तरार्द्धे त्विदम्—महाराजो रघुपतिरपि स्वभटानां जगज्जयमूलमस्तीति । तेन च पराक्रमातिशय इति ॥६॥

मुनिमनसोऽपि मदनमदमादिनि मोदमहोदधिमाले ।
अशकलचन्द्रचन्द्रिकाचन्दनचर्चितदिगन्तराले ॥७॥

मुनिमनस[3] इति । मुनिमनसोऽपि[4] मदनमदेन मादिनि मदकारिणि, मोदमहोदधीनामानन्दसमुद्राणां[5] माला यस्मिन्स तस्मिन्, अशकलस्य पूर्णचन्द्रस्य चन्द्रिका एव चन्दनं तेन चर्चितं लिप्तं दिशामन्तरालं मध्यं येन स तस्मिन् । पूर्वार्द्धे इदं व्यङ्ग्यम्—रघुपतिराज्येऽपि [6]उद्दीपनीकरणानन्दातिशय इति । तेन च तत्रैश्वर्यातिशय इति । उत्तरार्द्धे त्वेतत्—रघुराजराज्येऽपि प्रजायशश्चन्द्रिकया दिङ्मण्डली चर्चितेति । तेन च सर्वेषां सुकृतित्वमिति[7] ॥७॥

अखिलमहीमण्डलमण्डनकरसङ्कुलविविधविलासे[8] ।
विश्वनाथकथिता पदगाथा विलसतु रसिकविलासे ॥८॥

---

१. क. सुगन्धियो । २. क. दिशावलेयः । ३. क. मनिमनस । ४. क. मनिमनसोऽपि । ५ ख ०महोदधीमानन्दे समु० । ६. ख. उद्दीपनो कर० । ७. क. ख. सुकृतीत्व० । ८ ख. ० मंडलमंनकरसंकु विविध० ।

वसन्तवर्णनमुपसंहरति अखिलेति । अखिलस्य सम्पूर्णस्य महीमण्डलस्य मण्डनकराः भूषकाः सङ्कुला विविधा विलासा यस्मिन्[1] ऋतुराजे । इदं व्यङ्ग्यम्—श्रीरघुपतिराज्येऽपि विविधविलासैः प्रजाः पृथिवीमण्डलं भूषयन्तीति । तेन चाऽनयाभाव इति । विश्वनाथेन कविना वा कथिता पदगाथा,[2] रसिकाः श्रीरघुनन्दनलीलाज्ञातारस्तेषां निवासे गोष्ठ्यां विलसतु । अत्र रसिकगोष्ठीविलासेनाऽस्य गीतस्याऽपि वसन्तसमानशीलत्वम् । तेन चाऽत्र शृङ्गाराधिक्यं व्यज्यते ।।८।।

नृत्यति नवललनागणमण्डितरसपण्डितनवरामः ।
यल्लावण्यलेशमपि न लभेदमितरतिर्यदि[3] कामः ।।१।।

विहरतीत्यनेन प्रतिज्ञातं विहारं वर्णयति नृत्यतीति । नवानां ललनानां गणेन मण्डितः स चाऽसौ रसे शृङ्गारे पण्डितः स चाऽसौ नवो रामः नृत्यति । यदि कामः अमिता अपरिमिता रतयो यस्य ईदृशः स्यात्तदाऽपि यस्य श्रीरघुनन्दनस्य लावण्यस्य लेशमपि न लभेत् । अत्रोपमेये नृत्यस्योक्तत्वादुपमानेऽपि तदाक्षेपः प्रथमतः स रमणशीलस्तत्राऽपि[4] रसप्रवीणस्तत्राऽपि नवललनागणमण्डितस्तत्राऽपि नृत्यम् । एतेन रासे परमरसाधिक्यम् । तेन च रमणीनामुत्साहातिशयो व्यज्यते ।।१।।

तावता-वतत्थ-इत्थ-इतत्थ-इ-निनदापूरितदावम् ।
वीणानादसुसङ्गतसिञ्जितमधिकव्यञ्जितभावम् ।।२।।

नृत्यतीत्युक्तं नृत्यं वर्णयति । तावतावेत्यादिना । क्षणं सुप्रीतः सुप्रसन्न इव, क्षणं भीत इव, क्षणं ह्रीतो लज्जित इव, क्षणमह्रीतो धृष्ट इव, क्षणमनुनीतो[5] मुक्तमान इव श्रीरघुनन्दनस्तावता वतत्थइत्थइ[6]—इत्याकारकनिनदेन सङ्गीतसंज्ञकनृत्यसम्बन्धिशब्देन आपूरितो दावो वनं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यादेवम् । तावता वेत्यादेरर्थस्त्वेवम्—इ सम्बोधने हे श्रीरघुनन्दन ! इथे कामोत्सवे, वनाऽऽमन्त्रणे हर्षे[7] वा, ताः स्त्रियस्त्वमव[8] रक्ष[9] । कीदृशस्त्वं ? तत्थः ताभ्यस्यं मङ्गल यस्य सः, यद्वा तासां मङ्गलं यस्मात् सः, कीदृशे इत्थे ?

---

१. ख. यस्मिन् स तस्मिन् । २. ख. पादगाथा । ३. ख. लभेदमिति० ।
४. ख. ०स्तत्रापि नवस्तत्राऽपि । ५. ख. क्षणमुननीनो । ६. ख वतत्थइ तथइ थइ ।
७. ख. हृर्ष । ८. क. ०स्तममव । ९. ख लक्ष ।

इतत्थे इ-भेदस्तं तनोतीति इतत्, तादृशस्थ:क्षणोऽवकाशो यस्मिन् स तस्मिन्, प्रमाणं चाऽत्र—

'थ क्षणे मङ्गले च स्यादिति' मेदिनी ।

इभेदे चोभयत्र, वीणानादेन सुसङ्गतं सिञ्जितं भूषणशब्दो यस्मिन् कर्मणि, अधिकं व्यञ्जित: प्रकटितो भावो यस्मिन् कर्मणि, तद्यथा स्यादेवम् ।।२।।

सङ्गीतं नृत्यति सङ्गीतं सुप्रीतो रमणीयम् ।
क्षणभीतो ह्रीतोऽह्रीत:[1] क्षणमनुनीतो मननीयम् ।।३।।

सङ्गीतं सम्यग्गीतं सङ्गीतशास्त्रेऽप्युत्तममित्यर्थ: । रमणीयम् मनोहरं, मननीयं मननयोग्य, सङ्गीतं नृत्यविशेषं, नृत्यतीति द्वयो: सम्बन्ध: । प्रत्येकमण्डले स्थितयैकया प्रवीणया सख्योच्चारितांस्तावता[2]-वेत्यादिशब्दान् नृत्यन्ती सखी पदगत्या वादयन्ती च मृदङ्गेन नि:सारयतीति भाव: । अत्र सुप्रीत इत्यनेन स्वकीयाया, भीत इत्यनेन मुग्धाया, ह्रीत इत्यनेन मध्याया:, अह्रीत[3] इत्यनेन प्रगल्भाया:[4], अनुनीत इत्यनेन गतमानमानिन्याश्च भाव सूचयतीति व्यज्यते । तेन च तस्य नर्त्तनेऽधिकप्रवीणतेति । तेन च हे स्वामिनि ! एकस्वभावेन तादृशरसाधिक्यं नोत्पद्यतेऽत: श्रीरघुनन्दन इयतो भावान् दर्शयंस्त्वां शिक्षयतीति सख्यभिप्रायो व्यज्यते । तेन च रघुनन्दनप्रियं मानं कुर्विति ।।३।।

वाद्यमिलितमञ्जीरधीररवसुललितगतिततिसङ्गम् ।
अनुगततालविशालभेदगणमुखरितमधुरमृदङ्गम्[5] ।।४।।

पुन: सङ्गीतं विशिनष्टि वाद्येति । वाद्येषु रासोपयोगिचतुर्विधवाद्येषु मिलितो मञ्जीराणां धीरो रवो यस्मिंस्तच्च सुललितगतिततीनामतिसुन्दरपदचलनपरम्पराणां सङ्गो[6] यस्मिंस्तच्च तत्, अनुगतास्तालानां विशाला[7] भेदगणा यस्मिन्नेवं मुखरिता वादिता मधुरा मनोहरा मृदङ्गा यस्मिंस्तत् । वाद्यमिलितेत्यादिना नूपुरगुटिकानां समानस्वरत्वम् । तेन च तद्ध्वने: स्वरज्ञसुखदत्वं व्यज्यते ।।४।।

अतिरमणीयो रमणोऽविषमं प्रतिराम संरमते ।
सितेतरेतरकरनयनं बहु रासमण्डले क्रमते ।।५।।

---

१. ख. ज्ञीतोऽज्ञीत: । २. क. ०चारितोंस्तवता । ३. ख. अज्ञीत: ४. ख. प्रगएभाया ।
५. ख. ०भेदगुणमुखरित । ६. क. संमो । ७. ख. नाऽस्ति ।

अतिरमणीयो रमणो रघुनन्दनः अविषम समं यथा स्यादेवं प्रतिरामं रामां रामां प्रति सरमते सम्यक् क्रीडति । तस्य सखीषु नृत्यप्रेमकटाक्षादिलीला न्यूनाधिका न भवतीति सखीमण्डलं तिर्यङ् भवतीति भावः । सितं वद्धं परस्परकरनयनं यस्मिन्कर्मण्येवं यथा स्यात्तथा, रासमण्डले बहु क्रमते बहु चलति । रासमण्डले सखीनां रघुनन्दनस्य बहुत्वाल्लोलनृत्यं भवतीति । एक एव रघुनन्दनोऽतिनर्त्तनजवेन सकलसखीनिकटे दृश्यत इति भावः[1] । सितेतरेतरकर-नयनमिति क्रियाविशेषणेन परस्परालोकने तृप्तिमलभतां मनोऽपि बद्धं भवतीति व्यञ्जितम् । तेन च रासेऽत्यासक्तिरिति ॥५॥

मिथो दर्शनस्पर्शनपुलकिततवपुर्विजयते पनसम् ।
स्वेदसलिलकणसहितवदनमपि पयोनिधिजचन्द्रमसम् ॥६॥

मिथ इति । मिथो दर्शनस्पर्शने पुलकितं च तद्वपुश्च तत्, पनसं[2] विजयते । स्वेदसलिलकणसहितवदनमपि पयोनिधिजचन्द्रमसं विजयते । पयोनिधिज इति विशेषणेन चन्द्रस्य सजलकणत्वम् । तेन च तत्कालोत्पन्नत्वम् । तेन चाऽरुणत्वम् । तेन च तदुपमया वदनेऽप्यारुण्यम् । तेन चाऽनुरागातिशय इति व्यञ्जितम् ॥६॥

प्रसरत्पदतलशोणिमकबरीकालिमनखभाश्रेणीम्[3] ।
मणिमयरासस्थल इह मन्ये शतशश्चलत्त्रिवेणीम् ॥७॥

प्रसरदिति । इह मणिमयरासस्थले[4] यः प्रसरत्पदतलस्य शोणिमा च कबर्याः केशविन्यासस्य कालिमा च नखानां भाश्च तास्तासां श्रेणी राजिस्तां, शतशश्चलन्तीं त्रिवेणीं गङ्गायमुनासरस्वतीसङ्गमं मन्ये । निजनिकटमागतस्या-ऽर्थिजनस्य मनोरथानां पूरयन्त्याः प्रयागैकदेशस्थितायाः वेण्या आसां रासमण्ड-लीयचञ्चलवेणीनां दर्शने चैव पूर्णकामस्याऽपि रघुनन्दनस्य हृदये मनोरथान् वर्द्धयन्तीनां वैलक्षण्यं व्यज्यते । तेन च तासामतिशयितरसोत्पादकत्वमिति ॥७॥

ब्रह्मानन्दविजयि युञ्जानो ध्यानं यतिभिरगम्यम्[5] ।
विश्वनाथ उत्थाय ततोऽपि हि नृत्यति रासे रम्यम् ॥७॥

---

१. ख वा भावः । २. क पुनसं । ३. ख. शोणिमनकरी० । ४. ख. मणियये र० ।
५. ख. पतिभि० ।

ब्रह्मानन्देति । यतिभिर्योगिभिरगम्यमप्राप्यं ब्रह्मानन्दस्य विजयि, रम्यं श्रीरामरासलीलाविषयकं ध्यानं युञ्जानस्ततोऽपि हि उत्थाय, तदपि ध्यानं त्यक्त्वा विश्वनाथः सखीरूपो महादेवः श्रीरघुनन्दनसेवायोग्यशरीरेण रासस्थितः[1] कविर्वा नृत्यति । ब्रह्मानन्देत्यादिना रासस्य सर्वथा ध्यानागम्यत्वं[2] व्यज्यते । तेन च रासस्याऽनुक्षणनूतनत्वमिति[3] । इति गानं विधाय सखी मौनमासीत् ॥७॥

अमृतमधुरतामधो नयन्ती भणितिमिमामभिपीय[4] साधु सीता ।
दरचलितशिरा[5] स्वया वयस्यामलङ्कृताऽङ्गुलिमुद्रया द्रुतं ताम् ॥१॥

इति श्रीमहाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सङ्गीतरघुनन्दने
विसन्तरासवर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ।[6]

अमृतेति । सीता अमृतमधुरतामधो नयन्ती नीचीकुर्वन्ती, इमां सखीं गीतवसन्तादिवर्णनरूपां भणितिं, साधु यथा भवत्येवमभिपीय सादरं श्रुत्वा, दरमीषच्चलितं शिरो यस्याः सा, तां वयस्यां स्वया अङ्गुलिमुद्रया द्रुतं[7] शीघ्रं अलङ्कृता[8] अलङ्कृतवती । अत्र द्रुतमिति पदेन जानक्याः प्रसादस्याऽचिरकाल-फलप्रदत्वम् । तेन च महाराजलक्षणवतीत्वं व्यज्यते । अयमाशयः-निजगाने ललना-मण्डितेति विशेषणेन रघुनन्दनस्य सर्वासु सखीषु समं प्रेम । अनुनीत इति विशेषणेन रसवर्द्धकत्वेन तस्याभिप्रेतं स्वस्मिन्प्रेमाधिक्यजनकमानविधानं च व्यञ्जितवतीयं मय्येवाऽधिकप्रेमवतीति विज्ञाय जानक्याऽङ्गुलीयकेन सा परि-तोषिता ॥१॥

इति सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराजश्रीरामचन्द्रकृपापात्राधिकारि[9]-
श्रीविश्वनाथसिंहकृतायां व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिका-
नाम्नि टीकायां तृतीयः सर्गः ॥३॥

---

१. ख. रागस्थितः । २. ख. आनागम्यत्वं । ३. ख. रास्यानुक्षण० । ४. ख. भणितीममा-मभियीय । ५. ख. दरचलति० । ६. ख. पुष्पिकेयं नास्ति । ७. ख. द्रुगभं । ८. ख. अलपकृत । ९. ०श्रीसीताराम० ।

[अथ चतुर्थः सर्गः]

रमणं रासरतं[1] सम्पश्यन्ती[2] पतिप्रेम दर्शयितुम् ।
सीता गाने सखीगणं नमयन्ती ॥१॥

रासविलाससमाधिसुखाय समन्तरधादस्मिन्किल काले ।
प्रललापेह पतिः प्राणप्रियतमे ! गता भवती क्व नु बाले ॥२॥

रमणमिति । रमणं श्रीरघुनन्दनं[3], रासरतं[4] रासासक्तं, पश्यन्ती, पत्युः प्रेम, स्वस्मिन् दर्शयितुं, गाने सखीगणं नमयन्ती नम्रं विदधती सती, सीता रासविलासस्य समाधिसुखाय ध्यानानन्दाय, अस्मिन् काले वर्त्तमानसुख-समये, किल समन्तरधात् अन्तर्हिता बभूव । पतिप्रेम दर्शयितुमित्यनेन 'वयं सर्वा जानकीतुल्या एव रघुनन्दनस्य प्रिया' इत्यभिमानः सखीनां माभूदिति तासां हितं कर्त्तुमिति व्यज्यते । तेन च तस्याः सौहार्दातिशय इति । गान इत्यादिना हे सख्यो ! भवतीभ्यो न केवलमहं रूपाधिका किन्तु गुणाधिकाऽपि, यतो मद्गीतमोहितो रघुनन्दनो मामन्तर्दधतीं न ज्ञातवानिति तस्याः गुणगर्वितात्वं व्यज्यते । रासविलासेत्यादिपदेन प्रत्यक्षरासमण्डले रघुनन्दनान्तरितसखी सख्य-न्तरितरघुनन्दनं प्रत्येकरासमण्डलमवलोकयितुं न शक्यतेऽतस्तदवलोकनसुखं लब्धुमन्तर्हितेत्येककार्य्यसाधनेनाऽनेककार्यसाधनात् तस्याः परमचातुर्यं व्यञ्जितम् ।

जानक्यामन्तर्हितायामिह पतिः श्रीरघुनन्दनः प्रललाप । प्रलापप्रकार-माह—हे प्राणप्रियतमे ! हे बाले ! भवती क्व नु गता ? मम तु त्वमेव प्राण-प्रियतमाऽसि यदन्तर्हिताऽतो बालाऽसीति भावः ॥१-२॥

तव मुखनलिननिरीक्षणरहितो[5] नयनमधुकरो मुदं न लभते ।
[6]अनलति मलयानिलो गले मम[7] माल्यं व्यालसाम्यमारभते ॥३॥

तवेति । मम नयनमधुकरः तव मुखनलिननिरीक्षणरहितः सन् मुदं हर्षं न लभते । एतेन रसविशेषज्ञो मम नयनमधुकरः त्वद्वदनकमलादन्यत्कमलमेव न जानात्यतोऽन्यत्र मम प्रेमशङ्कां मा कुर्विति व्यज्यते । तेन च सकलसखीतो

१. क. रासतरं । २. ख. पश्यंति । ३. ख. श्रीरघुनन्दनं एव । ४. ख. रसतं ।
५. ख. मुखनिलनिरी० । ६. ख. अनल । ७. क. नाऽस्ति ।

जानक्याः सौन्दर्यातिशयो व्यज्यते । किञ्च मलयानिलो मम अनलवदाचरति । अयं भावः—यो मलयसम्बन्धी पवनस्त्वत्सङ्ग परमसुखदोऽभूत्, स इदानीं त्वां विना वह्निरिव मां दहतीति । मलयसम्बन्धाद् वायौ शीतलत्वं मन्दत्व सुगन्धित्व[1] व्यञ्जितम् । मलयानिलस्य वसन्ते वर्णितत्वाद् वसन्तकालो व्यज्यते । किञ्च माल्यं मम गले व्यालसाम्यमारभते । आरभत इति क्रियया इदानीमेव दर्शनं देहि । यदेयं माला व्यालीभूय दंक्ष्यति तदा भवत्यागत्याऽपि किं विधास्यतीति व्यज्यते ।।३।।

मम तनुविजितमूढमन्मथ इह मुन्थति निशितशरैरस्नेहम् ।
अतिमतिमन्दो दिवसदीप इव हिमकिरणोऽपि दहति मम देहम् ।।४।।

ममेति । मम तन्वा शरीरेण विजितः स चाऽसौ मूढो मूर्खो मन्मथः कामः, मम देहं, निशितैः तीक्ष्णैः शरैः, न स्नेहः प्रीतिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यादेवं मुन्थति पीडयति । हे प्रिये ! यः पूर्वं त्वया सहितस्य मम शरीरशोभाधिक्येन परास्तः स एव काम इदानीं त्वद्वियोगेन मम शरीरशोभाहान्या जिगोषतीति भावः । अथ मूढपदेन दुःखिते प्रहारो वीराणामनुचित इति व्यज्यते । तेन च तस्य निर्बलत्वम् । अतिमतिमन्दो हिमकिरणश्चन्द्रोऽपि दिवसदीप इव सूर्य इव मम देहं दहति । कामस्तु[2] स्वकान्तिहारकत्वेनाऽपराधिनं मां पीडयतु नाम । अयन्तु [निजस्वभावं व्यक्त्वा निरपराधं पीडयतीत्यतोऽतिमतिमन्द इति भावः][3] ।।४।।

इह मल्लीवल्ली वासन्ती श्लिष्यन्ती विटपं सानन्दम् ।
त्वयि हृदि सत्यां पुरो लसत्यामपि वर्द्धयति वेदनावृन्दम् ।।५।।

इहेति[4] । त्वयि हृदि सत्यां हृदये वर्त्तमानायामपि,[5] पुरोऽग्रे अग्रे विलसन्त्यां सत्यामपीह[6] स्थाने मल्ली नाम वल्ली वासन्ती नाम वल्ली, विटपोऽस्यास्तीति विटपः । अत्र विटपशब्दादर्श[7] 'आद्यच्', तं विटपं वृक्षं, सानन्दं यथा भवति तथा श्लिष्यन्ती आलिङ्गन्ती सती वेदनावृन्दं पीडासमूह वर्द्धयति । एतेन अन्तर्वह्निर्वर्त्तमाना त्वम् मम जानन्त्यपि[8] कथं न सहस इति । तेन च त्वं प्रकटीभूय मामानन्दयेति प्रार्थना व्यज्यते ।

---

१. ख. नाऽस्ति । २. ख. कामतुख । ३. [-] ख. पुस्तके तु केवलं 'निजस्वरहेति' इति पाठः । ४. ख. नास्ति । ५. क. ख. वर्त्तमायामपि । ६. क ख. सत्यामयीह । ७. ख. विटपशब्दः दर्श आद्यच । ८. ख. न जानत्यपि ।

तव रोचनलोचनसमपद्मं सञ्जातं मम हृदयखनित्रम् ।
अवलोकय रिपुरतिपतिचरितं मिल मिल मैथिलि मामव मित्रम् ।।६।।

तवेति । तव रोचनेन सुन्दरेण लोचनेन[1] समं तुल्यं यत्पद्मं हृदयस्य खनित्रं सञ्जातम् । हे मैथिलि ! इदानीं पीडाकरत्वाद्रिपुर्यो रतिपतिस्तस्य चरितमवलोकय । मिल, मिल, मित्रं मामव रक्ष । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—त्वां विना भ्रान्तस्य ममानन्ददायिनो भेदयित्वा कामेनाऽस्त्रीकृता इति । तेन च त्वया शीघ्रं मित्रस्य साहाय्यं करणीयमिति व्यज्यते ।।६।।

विलसति सौदामिनी वारिदे त्वं न हि पश्यसि महद्विचित्रम् ।
ज्ञातं ज्ञातं ध्यानगता त्वं नोचितमिदमन्यथा चरित्रम् ।।७।।

विलसतीति । सौदामिनी वारिदे विलसति शोभते, त्वं न हि पश्यसीति महद्विचित्रमाश्चर्यम् । यदि पश्येस्तर्हि पीडिता सती मां प्राप्नुया एवेति[2]भावः । अत्र प्रलापदशातो[3] वियोगे संयोगस्फूर्त्तिः । पुनर्विचार्याऽऽह ज्ञातं ज्ञातं त्वं ध्यानगताऽसीति, अन्यथैतादृशीं सौदामिनीं वीक्ष्येदं ममाऽनालिङ्गनरूपमनुचित चरितं तव न भवेत् । अत्र ध्यानगतेत्यनेन त्वं तु सुखिताऽहमेव दुःखित इति व्यज्यते । तेन च त्वं मामेव ध्यायसीति व्यङ्ग्यम् ।।७।।

रघुनन्दनजनकेन्द्रनन्दिनीचरितरसाम्बुधिभवनवनीतम् ।
मोदं दिशतु सतामिह नित्यं विश्वनाथगीत वरगीतम् ।।८।।

रघुनन्दनेति । रघुनन्दनजनकेन्द्रनन्दिन्योश्चरितरसस्य लीलारसस्य अम्बुधेर्भवं नवनीतं, विश्वनाथेन महादेवेन कविना वा, गीतं वरगीतं, इह जगति, सतां साधूनां, नित्यं मोदमानन्दं दिशतु ददातु । यद्यपि रघुनन्दनस्य सकलं चरितमानन्दप्रदं, तथाऽपि विशेषरसज्ञानामिदं शृङ्गारलीलारूपचरितं सर्वाधिकानन्ददायीति भावः । अत्राऽम्बुधिपदेन श्रीरघुनन्दनचरितानामानन्त्यम् । तेन च तत्सारस्याऽप्यानन्त्यमिति व्यज्यते ।।८।।

रत्नादिकुञ्जे तव वल्लभाऽस्ति प्रोवाच रामं प्रति योगिनीति ।
कामा सखीयं सवसन्तिका चेद् गायेद् गुणांस्ते प्रकटीभवेत्सा ।।१।।

---

१. ख. लोचलेन । २. ख. रविति । ३. ख. ०दशति ।

रत्नादिकुञ्ज इति । तव वल्लभा रत्नादिकुञ्जेऽस्ति । तत्र वसन्तिकया[1] सख्येयं कामा[2] नाम सखी चेद् यदि तव गुणान् गायेत्तदा सा[3] प्रकटीभवेदिति । योगिनी नाम काचित्सखी रामं प्रति प्रोवाच—अहं योगबलेन जानामीति योगिनीपदेन व्यज्यते । तत्र रासं ध्यायन्त्या जानक्या एते एव काममुद्दीप्य, मनःक्षोभं जित्वा भवद्वियोगं स्मारयिष्यत इति कामावसन्तिकापदाभ्यां व्यञ्जितम् । तेन च शीघ्रं मानभङ्ग इति गुणगानसमनन्तरप्राकट्यादि[4] व्यङ्ग्यम्—जानकीप्रकटीकारे यादृक्सामर्थ्यं भवदीयगुणानां तादृगन्येषां नाऽस्तीति । तेन च जानक्या रघुनन्दनगुणाधीनत्वं व्यज्यते ।।१।।

स योगिनोसम्प्रतिवेदितार्थो दिदेश कामां सवसन्तिकां ताम् ।
जगाम सेयं रघुनन्दनेन प्रादेशिता प्राप्य जगौ गुणालीम् ।।१।।

स इति । योगिन्या सम्यक्प्रतिवेदितो ज्ञापितोऽर्थो जानकीप्राप्तिरूपो यस्मै स रामः[5] सवसन्तिकां तां योगिनीनिर्दिष्टां कामां सखीं दिदेश आज्ञापयामास । रघुनन्दनेन प्रादेशिता आज्ञप्ता सा इयं वसन्तिका कामा सखी जगाम रत्नाद्रिकुञ्जमितिशेषः । प्राप्य च रघुनन्दनस्य गुणालीं जगौ । योगिनीत्यादिना ज्ञानसाधनेषु योगस्य श्रेष्ठत्वम् । तेन च योगिन्युक्तोपायस्य रघुनाथमनःपतित्वं[6] व्यज्यते । अत्र योगशब्देन भक्तियोगो ज्ञेयः ।।२।।

जय जय करुणाकरपर रघुवर ! विना हेतुमुपकारी ।
जनरक्षणसुविचक्षण वीक्षणतीक्ष्णतापसंहारी ।।१।।

जानकीकृतमानमोचनाय[7] कामाकृतरघुनन्दनगुणस्वरूपवर्णनरूपगानमाह—जय जयेत्यादिना । अत्रोक्तिस्तु[8] रघुनन्दनं प्रतिबोधनं जानकीं प्रति । करुणाकरेभ्यः परः श्रेष्ठः हे रघुवर ! हेतुं कारणं विनोपकारकरणशीलस्त्वं जय जय निजोत्कर्षं प्रकटय । जय जयेत्यादरे वीप्सा । जनानां रक्षणे सुविचक्षण, वीक्षणेन तीक्ष्णतापस्य संहारी स च सः । एतेन नैतादृशोऽपराधं करोतीति रघुनन्दनस्य निरपराधत्वम् । तेन च हे जानकि ! तव मानकरणानौचित्यं व्यज्यते[9] । अत्राऽन्यसन्निधिवैशिष्ट्यजन्यार्थशक्त्युद्भवो[10] वस्तुना वस्तुध्वनिः ।।१।।

---

१. क. वसन्तिकमा । २. क. काम । ३. ख. स । ४. क. प्राकट्येदं । ख. ०प्राक् कोदं ।
५. क. रासः । ६. क. रघुनद्य० । ७. ख. जानकीकृतामान० । ८. ख अत्रोक्ति ।
९. ख. विज्यते । १०. ख. ०वैशिष्ट्यन्यार्थ० ।

नित्यक्षण सुविलक्षणलक्षण नरशिक्षणसंसारी ।
वत्सलतादिसकलगुणसागर नागरवर शृङ्गारी ! ॥२॥

नित्यक्षणेति । नित्यः क्षणः उत्सवो यस्य तत्सम्बुद्धिः, सुविलक्षणानि इतर-लक्षणेभ्यो लक्षणानि यस्य तत्सम्बुद्धिः, नराणां शिक्षणाय संसारीव संसारी, वत्सलतादीनां सकलगुणानां सागर अगाधप्रेमनिवासस्थान; अश्रितदोषमोचकत्व-वत्सलता-आदिना सौशील्यादीनां परिग्रहः । नागरः वरः प्रवीणः श्रेष्ठः, शृङ्गारी शृङ्गाररसास्पदम्, उचितोत्तमाभूषणधारको[1] वा । अस्मत्स्वामिनीं विना व्यथितो भवान् स्वस्य नित्योत्सवलक्षणप्रतिपादकं सामुद्रिकशास्त्रं किं मृषा करिष्यतीति सुविलक्षणलक्षणेति पदेन व्यज्यते । तेन च हे जानकि ! भवत्यपि सामुद्रिकंशास्त्रवैयर्थ्यकारणं मा भूदिति । नरशिक्षणाय योऽवतरति तं वयं स्त्रियः किं शिक्षयाम इति नरशिक्षणसंसारीति पदेन व्यज्यते । तेन च हे स्वामिनि ! त्वमपि तथैव पतिव्रतशिक्षणायाऽवतरसीति । परमप्रवीणे त्वय्यस्माकं शिक्षावचन-मनुचितमिति नागरवरेति पदेन व्यज्यते । तेन च हे प्रवीणे ! त्वमेव प्रकटीभूय रघुनन्दनं शिक्षयेति । शृङ्गारिणः पुरुषाः सापराधा अपि वनिता लालयन्तीति शृङ्गारीति पदेन व्यज्यते । तेन च हे राजकिशोरि[2] ! [3]निजान्तर्द्धाना-पराधशङ्कां मा कुर्विति ॥२॥

लोचनवदनबाहुवारिजविधुविषधरमदपरिहारी ।
कण्ठोरःस्थलकम्बुनीलमणिशिलाचारुतादारी ॥३॥

लोचनेत्यादि । लोचनेन च वदनेन च बाहुना च क्रमेण वारिजस्य विधोश्च विषधरस्य च मदस्य गर्वस्य परिहारी दूरकर्त्ता, कण्ठेन च उरःस्थलेन च कम्बोश्च शखस्य नीलमणिशिलायाश्च चारुतादारी सौन्दर्य्यनाशकः जल-जचन्द्रयोस्तापनिवारकताह्लादकतयोः, सर्पे आकारविशेषस्य[4] गर्वः, शंखे रेखात्रय-वदाकारस्य, नीलमणिशिलायां विस्तारकान्तिस्निग्धतानां[5] चारुतेति[6] ॥३॥

उदरजितोज्ज्वलजलधित्रिवलीतल्लहरीधिक्कारी ।
[7]सुकटिसविघपदहरिकटिकरिकरनवकिशलयलघुकारी ॥४॥

---

१. ख. अचित्तोत्तमा० । २. ख. किशोर । ३ ख. निजान्तह्याना० । ४ क. अकार० ।
५. ख. विस्मार० । ६. ख. च चारुतेति । ७. ख. सुकठिसविथ० ।

उदरेति । उदरेण जित उज्ज्वलस्य शृङ्गारस्य जलधिर्येन स चाऽसौ त्रिवलिभिस्तस्य[१] समुद्रस्य लहरीणां धिक्कारी निन्दकः, यथाक्रम सुकटिसविध-पदेन[२] हरिकटि-करिकर-नवकिशलयान् लघून् करोतीति सः, शृङ्गारसमुद्रे गाम्भीर्यसौदर्ये[३] तल्लहरीष्वाकृतिशोभे सिंहकटौ सूक्ष्मता, शुण्डायामाकारः, नव-पल्लवेषु वर्णकोमलते इति । एतेन तवैतादृशरूपदर्शनं त्यक्तुं न कोऽपि शक्नोति । सुषमावधिरूपादर्शनासहिष्णुर्जानकी कथमन्तर्हितेति बोधयति[४] । तेन च हे जानकि ! रघुनन्दनं[५] प्राप्नुयाश्चेत्तर्हि तव रूपादर्शनासहिष्णुत्वहानि-र्भविष्यतीति ॥४॥

स्मितयुवतीजनविस्मितकारक रसनायकविस्तारी ।
सरसदर्शनस्पर्शसमेधितसुखसुषमापरिसारी ॥५॥

स्मितेति । स्मितेन युवतीजनं विस्मितं करोतीति तत्सम्बुद्धिः, यदा स्मयते तदा सुधावृष्टिर्भवतीति, तरुण्यो विस्मयन्त इति भावः । रसनायकस्य शृङ्गारस्य विस्तारी विस्तारकर्त्ता, रससहिताभ्यां दर्शनस्पर्शाभ्यां समेधितं संवर्द्धितं सुखं येन तत्सम्बुद्धिः, सुषमायाः परमशोभायाः परिसारी । यत्र यत्र चलति तत्र तत्र सुषमा छटा प्रसरतीति भावः । 'सरसेत्यादावयं' भावः[७]—यां काममुद्दीपयन् सकटाक्षं निरीक्षसे, या च त्वां स्पृशति, अथवा या सखी त्वां कटाक्षेण पश्यति, तस्याः परमसुखावधिर्नाऽस्तीति । स्मितेत्यादौ च स्मितमात्रे-णैव[८] युवतिजनविस्मयजनकत्वात्तासां[९] मध्यगुरुमानयोः सम्भावनैव नाऽस्तीति । अत्र रसनायकेत्यादिना शृङ्गारस्य रघुनन्दनाधीनत्वम् । तेन च रघुनन्दनस्य रसराजत्वम् । तेन च तवाऽपि रसराजस्वामिनीत्वम् । तेन चाऽऽलम्बनभूतयोः प्रतिकूलाचरणेन तद्धानिर्भविष्यतीति । तेन च मिल मिलेति व्यज्यते ॥५॥

वसनविभूषणकलितकलेवर मौलिमुकुटमणिधारी ।
अद्भुतकेलिकुतूहलकोविद नित्यरासरसञ्चारी ॥६॥

वसनेति । वसनैः विभूषणैश्च कलितं कलेवरं यस्य तत्सम्बुद्धिः, मौलौ मुकुटमणिं मुकुटश्रेष्ठं धरति तच्छीलः । सहजां यस्य[१०] सुषमामवलोक्य काऽपि

---

१. ख. त्रिवल्लीभि० । २. ख. ०सविधपदेन । ३. क. ०सोदर्य । ४. क वर्णकोमले । ५. ख. बोधयेति । ६. ख. रघुनन्दनं न । ७. '-' ख. नास्त्ययमंशः । ८. ख. स्मितामात्रेणैव । ९. ख. युवतिजनकत्वात्तासां । १०. ख. जस्य ।

त्यक्तुं न शक्नुयात्, किम्पुनर्वसनादिभूषितस्येति भावः । अद्भुतासु केलिषु यत्कुतूहलं तत्र कोविद ! यस्या यथा मनो भवति तया सह तथैव क्रीडसीति भावः । नित्यरासलसञ्चरणशीलः । एतेन रघुनन्दनस्य क्षणवियोगासहत्वम् । तेन च विरहदुःखातिशयः । तेन च हे जानकि ! यावद् रघुनन्दनो विवर्णो न भवेत्तावदेव प्रकटीभूय रघुनन्दनं [1]पश्याऽन्यथैतादृशरूपदर्शनं तव दुर्लभं भविष्यतीति व्यज्यते ॥६॥

कोककलाकलनाकुशलाऽल्पकजल्प[2] प्रियानुसारी ।
मानविमोचन ललनालोचनसुखमयकायविहारी ॥७॥

कोकेति । कोके कामशास्त्रे[3] याः कलास्तासां कलनायां रचने कुशलः, नव-नवकोककलाः कर्त्तुं समर्थ इत्यर्थः । अल्पको जल्पो यस्य तादृशः । कदाचिद् भयेन कठोरवचनं न निस्सरेदिति[4] स्वल्पमेव जल्पसीति भावः । प्रियामनुसरति तच्छीलः, सर्वथा प्रियानुकूल इत्यर्थः । अथवा कोककलाकलनाकुशलाल्पकजल्पप्रियामनुसरतीति । हे मानविमोचन ! ललनालोचनानां सुखमयेन कायेन विहरतीति । मानविमोचनेत्याद्येकं पदं वा । एतेन[5] यदि [6]कदाचित्किाचिद्रसाधिक्याय मानमपि कुर्यात्तर्हि त्वत्स्वरूपदर्शनादेव मानस्य स्मृतिरेव भवतीति[7] । तेन च हे मानिनि ! दृष्टे रघुनन्दने तव मानो [8]यास्यत्येवाऽतस्त्वं स्वत एवं कथं न प्राप्नोषीति व्यज्यते ॥७॥

ईदृशि रमणे दृग्गोचर इह किमु विहरति वरनारी ।
विश्वनाथगीते गीतेऽस्मिन्मिलतु विदेहकुमारी ॥८॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार श्रीविश्वनाथसिंहकृते[9] रघुनंदने[10]
जानक्यंतर्द्धानवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

अथ श्रीरघुनन्दनस्य निरपराधतां[11] स्वरूपगुणांश्च वर्णयित्वा जानकीमानयोग्यतां[12] व्यञ्जयन्ती गीतं संहरति—ईदृशीति । ईदृशि रमणे त्वयि दृग्गोचरे सति इह वरनारी विशेषरसाभिज्ञा किमु विहरति विहारं करोति,

---

१. ख. यस्या० । क. पश्यान्यथंभावदृशवे । २. ख. कलनाकुलाल्पक० । ३. ख. कामाणस्त्रे । ४. क. सरेदिति । ५. क. यतेन । ६. ख. कचादित्० । ७. ख भभवतीति । ८. क. यास्यात्ये० । ९. ख. सिंहकृतायां । १०. ख. संगीतरघु० । ११ ख निरपराधातां । १२. ख. ०योयतां ।

अपि तु नैव करोतीत्यर्थः। एतेन रघुनन्दनस्य नायकोत्तमत्वम् । तेन च हे जानकि ! त्वमुत्तमनायिकाऽसि[1]; इदानीमपि मानं न त्यजेश्चेत्तदा रहसि[2] सख्यस्त्वामज्ञां कथयिष्यन्तीति[3] । तेन च ज्ञानिकन्यायामज्ञानिनीति कथनं महती लज्जेति व्यज्यते । अस्मिन् गीते विश्वनाथेन महादेवेन कविना दा गीते, अथवा विश्वनाथस्य श्रीरघुनाथस्य गीत गानं यस्मिंस्तस्मिन् गीते सनि, विदेहकुमारी मिलतु प्राप्नोतु[4] रघुनन्दनमिति शेषः ।

इति सिद्धि[5]श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीरामचन्द्रकृपापात्राधिकारी[6]
श्रीविश्वनाथसिंह-कृतायांव्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि[7]
टीकायां चतुर्थः सर्गः ॥४॥

[अथ पञ्चमः सर्गः]

रघुनन्दनगुणगानाद्भुतप्रभावं जनकपुत्रीं च ।
युगपद्द् विलोक्य ससुखं[8] वसन्तिका सङ्गादेदम् ॥१॥

[9]एतेन रघुपतिगुणगानस्याऽतिसद्यःफलदातृत्वम् । तेन च तस्य सर्वाधिक्यं व्यज्यते । 'अत्र सहोक्त्यलङ्कारध्वनिजवस्तुना वस्तुध्वनिः'[10] ॥१॥

पश्य पश्य कामे सखि पुरतो राजति जनककिशोरी ।
ध्यानगतान्तर्द्धानप्रकटितपतिमुखचन्द्रचकोरी ॥१॥

रासरतं रमणं ध्यायन्तोमेव जानकीं मानिनीं मत्वा, श्रीजानकीमानकरणमनुचितं विचार्य्य मानो मया न कृतोऽपि तु ध्यानमेव कुर्वती स्थितेत्यूरीकृत्य श्रीरघुनाथं पायादित्यभिप्रायेण ध्यानमारोपयन्त्याह—पश्येति । हे कामे सखि ! पश्य पश्य, तव पुरतो जनककिशोरी राजति । ध्यानगता सा चाऽसौ [11]अन्तर्द्धानात्प्रकटिता च सा चाऽसौ पत्युः[12] श्रीरघुनन्दनस्य मुखमेव चन्द्रस्तत्र चको-

---

१. ख. तुमुत्तम० । २. ख. हरसि । ३. ख. कथापिष्यन्तीति । ४. ख. प्राप्नोति । ५. ख. सिद्धः । ६. ख. पात्राधिकार । ७. ख. विज्ञार्थ० । ८. ख. सुखं ।
[९. इतः पूर्वमयमंशो विशेषः ख. पुस्तके—'रघुनन्दनेति स्पष्टम्' । १०. '-' चिह्नान्तर्गांऽशो नाऽस्ति ख. पुस्तके । ११. ख. अन्तर्द्धानात्० । १२. ख. पत्य ।

रीव। पश्य पश्येति सम्भ्रमे वीप्सा । पतिमुखेत्यादाविदं व्यङ्ग्यम्—सखि ! पश्याऽस्या अद्भुतप्रीतिं, मानवती हि प्रत्यक्षेऽपि प्रिये तिर्यङ्मुखी भवति । एषा तु ध्यानेऽपि श्रीरघुनन्दनमुखमेवावलोकयतीति । तेन च नेयं मानिनीति ॥१॥

सुमनःस्नेहसुगन्धितशाटी कुसुमकलितकचपाशः ।
भाति सुरद्रुपरागपरीतो यस्या[1] निशि वाऽऽकाशः ॥२॥

सुमनःस्नेहेत्यादि । सुमनसां पुष्पाणां स्नेहः 'अतर' इति लोके प्रसिद्धः, तेन सुगन्धिता सा चाऽसौ शाटी तथा[2] कुसुमैश्च कलितो युक्तः कचपाशः केश-पाशः, निशि सुरद्रुमः कल्पतरुः तस्य परागेण कुसुमरजसा परीतो व्याप्तः आकाशो वा आकाशसदृशो भाति । "वा यथा तथैवैवं साम्य"मरः[3] । अत्र निशिपदेन आकाशस्य सनक्षत्रता व्यज्यते । तेन च नक्षत्राणां कुसुमसादृश्यम् । परागसादृश्येन शाट्याः सूक्ष्मताकोमलते व्यञ्जिते ॥२॥

प्रभापुंजपरिभासितभाले लसति नीलमणिराजः ।
अर्द्धचन्द्रसिंहासनगत इव रसराजो विसमाजः ॥३॥

प्रभापुञ्जेति । यस्याः प्रभापुञ्जपरिभासितभाले नीलमणिराजः, अर्द्ध-चन्द्र एव सिंहासनं तद्गतः, समाजरहितः रसराजः शृङ्गार इव लसति । अत्र भालस्य चन्द्रोपमया[4] दर्शनादेवाऽऽह्लादजनकत्वं व्यज्यते । नीलमणेः शृङ्गारोप-मयाऽद्वितीयत्वम् । तेन च सौन्दर्यातिशयो[5] व्यज्यते ॥३॥

मोदसदनवदने लोचनयुगमञ्जनयुतमिति शङ्के ।
मिलितमिलिन्दकोकनदयुगलं विलसति विधौ निरङ्के ॥४॥

मोदसदनेति । यस्याः मोदसदनवदने अञ्जनयुतं लोचनयुगं, निरङ्के निष्कलङ्के विधौ चन्द्रे, मिलितौ मिलिन्दौ भ्रमरौ यस्मिंस्तच्च तत् कोकनद-युगलं विलसतीति शङ्के । अत्र मुखप्रशस्त्या कोपाभावो व्यज्यते । तेन च मानानवकाशः[6] । कोकनदपदेन नयनयोः सानुरागत्वं व्यज्यते ॥४॥

अलकावलिकमनीये कर्णे सभमचलितताटङ्कम् ।
यमुनाकूलसुवर्णसुतीर्थे मन्ये रविं सशङ्कम् ॥५॥

---

१. ख. पश्या । २. ख. तन्या । ३. ख. सामा इत्यमरः ।
४. ख. चन्द्रोपमद्या । ५. ख. सौदर्य्यातिशयो । ६. क. मानानकाशः ।

अलकावलीति । अलकावल्या कमनीये, यस्याः कर्णे, सभं सप्रकाशं, अचलितताटङ्कं, यमुनायाः कूले सुवर्णस्य सुतीर्थे, सशङ्कं[1] रविं मन्ये । अत्र सशङ्कमिति पदेन सूर्यस्य पूर्वं कन्याजलस्नानागमनं भ्रमेणेति व्यज्यते । तेन च चाकितत्वेन स्थिरत्वम् ॥५॥

ललितविभूषणकलितनासिका[2] नयनकुतूहलचरिता ।
विलसति विजितकीरवदनाकृतिनटनस्थिरशिखिरुचिता ।६॥

ललितेति । विजिते कीरवदनाकृतिश्च नटनाय स्थिरस्य शिखिनो मयूरस्य रुचिता शोभा च यया सा, आकृत्या शुकतुण्डस्य, भूषणेन मयूरस्य[3] शोभा जितेत्यर्थः । नयनयोः[4] कुतूहलाय चरितं यस्याः सा, यस्याः ललितेन विभूषणेन कलिता सा चाऽसौ नासिका विलसति शोभते । अत्र नटनस्थिरेति पदेन भूषणस्य भाविचञ्चलत्व व्यज्यते । तेन च रघुनाथसङ्गमाय गत्यादि-व्यापारः ॥६॥

कण्ठाभरणविभूषितकण्ठो विजितसमणिदर एषः[5] ।
भूषणभूषितभुजः कुसुमयुतकल्पलतावरवेषः[6] ॥७॥

कण्ठाभरणेति । यस्याः एषः[7] कण्ठाभरणेन विभूषितः स चाऽसौ कण्ठः, मणिभिः सहितो मणिजटित इति यावत् दरः शङ्खो येन स राजतीति, शेषः । एतेन त्वया[8] कण्ठशोभयैव तादृशमूकः शङ्खो जितः, सम्प्रति सध्वानमपि तं जयेति व्यज्यते । भूषणेति—यस्याः भूषणभूषितो भुजः, कुसुमैर्युतायाः कल्पलतायाः वरो वेषो यस्य स शोभते । एतेन त्वया स्वभुजेन स्वरूपतः कल्प-लता जितेदानीं कथनं विनैवाऽस्मन्मनोरथपूरणेन[9] तस्याः कामदातृत्वमपि जीयतामिति । तेन च झटिति[10] रघुनन्दनं मिलेति[11] प्रार्थना व्यज्यते ॥७॥

कृष्णकञ्चुकीवृतकुचमध्ये विलसति मुक्ताहारः ।
विजितमुदिरयुतमेरुशिखरयुगमध्यसुरधुनीधारः ॥८॥

कृष्णेति । कृष्णवर्णया कञ्चुकया वृतयोः यस्याः कुचयोर्मध्ये, मुक्ता-हारः, विजिता मुदिरेण मेघेन युतस्य मेरोः कनकगिरेः शिखरयुगस्य मध्ये

---

१. ख. संक । २. ख. ०विभूनकलित० । ३. ख. मपरस्य । ४. ख. नयनो ।
५. ख. येषः । ६ ख. कुसुमजुत० । ७. ख. एषाः । ८. क त्वाप्रा । ९. ख.० मथो-रथ० । १०. क. द्रटिति । ११. क. मिलिति ।

वर्त्तमाना सुरधुन्या गङ्गायाः धारा येन सः, विलसति । हारशोभया तु तादृश-गङ्गाशोभा जिता, सम्प्रति चलित्वा, श्रीरघुनन्दनं मिलित्वा गङ्गायास्तापहारित्व-शक्तिरपि त्वया जीयतामिति जितेत्यादिना व्यज्यते । तेन च त्वां विना रघुनन्दनस्याऽस्माकं च तापं हर्त्तुं न कोऽपि समर्थ इति ॥८॥

ललितत्रिवलियुतलोमावलिकृशतरमुदरमसङ्गम् ।
जेतुं हरौ त्रिदण्डशक्तिधरमिह मन्येऽहमनङ्गम् ॥९॥

ललितेति । ललितत्रिवलियुता लोमावलिर्यस्मिंस्तत् कृशतरमतिसूक्ष्मं यस्या उदरमहं हरौ शिवौ जेतुं त्रिदण्डानां शक्तेश्च धरमिह असङ्गमनङ्गं मदनं मन्ये । एतेन सखि जानकि ! पलायस्व पलायस्व, कुचशम्भू रघुनन्दनोरसा संवमय; कामः शत्रुः शम्भुं जेतुं सज्जीभूत इति सखीपरिहासो व्यज्यते । तेन च तस्या अतिनिकटवर्त्तित्वम् ॥९॥

शङ्करपरपाशितदिनकरकरमपि[1] पश्येयुर्लोके ।
तदपि न सरशनकटिमुपमातुं[2] कवयः शक्ताः श्लोके ॥१०॥

शङ्करेति । शङ्करस्य परेण शत्रुणा कामेन पाशितः पाशविषयीकृतः स चाऽसौ दिनकरस्य करः किरणस्तमपि लोके पश्येयुस्तदपि यस्याः श्लोके रशनया[3] सहितं कटिमुपमातुं कवयः शक्ताः समर्था न भवन्ति[4] । शिवस्याऽष्ट-मूर्त्तिषु सत्त्वात् सूर्योऽपि कामशत्रुरिति भावः । एतेन कटिर्दृढं बद्ध इति व्यज्यते । तेन च कुचभारभङ्गभयं त्यक्त्वा शीघ्रं रघुनन्दनं प्रति चलेति ॥१०॥

कनकतन्तुगुम्फितमणिगजमणिवरघर्घरपरिधानम् ।
नयनविषयमुपनीय तरणिरपि रहयति निजमभिमानम् ॥११॥

कनकेति । कनकतन्तुभिर्गुम्फिता मणयो गजमणयो गजमुक्ता यस्मि-स्तच्च तद्वरं घर्घराख्यपरिधानं च 'घाघरे' ति लोके प्रसिद्धम्, तत् नयन-विषयमुपनीय प्राप्य, तरणिः सूर्योऽपि निजमभिमानं[5] रहयति त्यजति । अस्या-ऽग्रेऽहं कियत्प्रकाशवानिति लज्जितो भवतीति भावः । एतेन हे सखि !

---

१. क. ख. ०परपासित० । २. क. ख. सरसन० । ३. क. रसनया । ख. रसनाय ।
४. ख. भववन्ति । ५. क. निनिजममानं । ख. निजमपिमानं ।

एतावन्तमीदृशघर्घरभारं[1] सोढा[2] तव कटिः किञ्चलन एव[3] त्रुटिष्यतीति व्यज्यते । तेन च निःशङ्कतया गमनं कुर्विति[4] ॥११॥

राजितरत्नाभरणविराजितपादपराजितममलम्[5] ।
सजलविन्दु नखराकृतिमिन्दुं वीक्ष्य विमुद्रति कमलम् ॥१२॥

राजितेति । यस्या राजितै रत्नाभरणैर्विराजितेन पादेन पराजितं, जलबिन्दुभिः सहितममलं कमलं नखराकृतिमिन्दुं चन्द्रं वीक्ष्य विमुद्रति । एतेन जितकमलस्य चरणस्य सन्तापहारिप्रभावं परमप्रिये रघुनन्दने एव किं न दर्शयसीति[6] व्यज्यते । तेन च तव चरणादेव रघुनन्दनो निस्तापो भविष्यतीति ॥१२॥

कोटित्रयनिजसखीसंवृता कान्तिचकासितकाया ।
यामवलोक्य लोक्यते मलिना सोडुसुधांशुच्छाया ॥१३॥

कोटित्रयेति । कोटित्रयनिजसखीभिः संवृता, प्रादुर्भूतां जानकीं श्रुत्वा तस्यास्त्रिकोटयः[7] सख्योऽपि समायाता इति भावः । कान्त्या चकासितः कायो यस्याः, सा, यां 'जानकीमवलोक्य उडुभिर्नक्षत्रैः सहितस्य सुधांशोश्छाया कान्तिर्मलिना लोक्यते'[8] तां जानकीं पश्येति पूर्वेणाऽन्वयः । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्— हे सखि जानकि ! तव शोभातः पराजितश्चन्द्रस्तापं कारं कारं तापमयः सञ्जातस्ततोऽधिकं तापं करोतीति । तेन च तत्र गत्वा त्वमेव रघुनन्दनस्य तापं हरेति ॥१३॥

ईदृशवनिताविरहविषण्णः[9] कथं जीवितुं मनुते ।
विश्वनाथकृतगीते गीते[10] रामो मुदमातनुते ॥१४॥

ईदृशेति । ईदृश्या वनिताया विरहेण विषण्णः[11], जीवितुं कथं मनुते ? न कथमपीत्यर्थः[12] । विश्वनाथेन कृते गीते, गीते सति जनैरिति शेषः, रामो

१. ख. ०भार । २. ख .सोढी । ३. क. एष । ४. ख. विति । ५. ख. ०विराजत० ।
६. ख. दर्शयतीति । ७. ख. त्रिकोटिय: । ८. '-' एतदंशस्थाने ख. पुस्तके केवलमयमंश एव दृश्यते-'जानकीमवलोश्यते' । ९. ख. ०विरदविपण: । १०. ख. नाऽस्ति ।
११. क ख. विषण: । १२. ०मपीत्यर्थ: ।

मुदमातनुते विस्तारयति । ईदृशेत्यादिना बह्वीषु वनितासु सतीष्वपि त्वां विना रघुनन्दनस्य न सन्तोष इति व्यज्यते । तेन च जानक्यां प्रेमातिशय इति ॥१४॥

प्रतिक्षणातुच्छसमुच्छलच्छवि-
च्छटावलोकस्थगितेन्द्रियव्रजाम् ।
विलोक्य कामा स्वसखीं वसन्तिकां,
प्रगल्भवाग्बोधयति स्म जानकीम् ॥१॥

प्रतिक्षणेति । प्रतिक्षणमतुच्छायाः समुच्छलन्त्याश्च छवेश्छटावलोकेन स्थगित इन्द्रियव्रजो यस्याः सा तां[1], वसन्तिकां स्वसखीं विलोक्य, प्रगल्भा वाग् यस्याः सा, कामा नाम सखी जानकीं बोधयति स्म । पूर्वं श्रीजानकीमवलोकयितुमुत्कण्ठितां सम्प्रति तस्या रूपदर्शनेन स्थितामिव[2] वक्तुमशक्तवतीं[3] वसन्तिकामवगत्य कामा[4] स्वयमाहेति । स्थगितेन्द्रियव्रजामिति विशेषणेन जानक्या बोधनेऽसामर्थ्यं व्यज्यते । तेन च प्रेमाधिक्यमिति[5] ॥१॥

सुरभिं सखीसमुदयं यौवनमपि नायकमनुकूलम्[6] ।
दुर्लभमेकमेकमाकलये किमु सकलं सुखमूलम् ॥१॥

एतावताऽपि मानमत्यजन्त्यां जानक्यामीषत्कुपिता कामाऽऽह[7]—सुरभिमिति । सुरभिं वसन्तं, सखीनां समुदयं समूहं, नवयौवनं, अनुकूलं नायकमपि, एकमेकं सुखमूलं[8] दुर्लभमाकलये; सकलं दुर्लभमिति किमु वक्तव्यम् ? एतेन[9] सुलभे[10] सकले सुखमूले मानं कृत्वैका त्वमेवाऽनभिज्ञेति व्यज्यते । तेन च सुखे दुःखकारिणी त्वमेवेति ॥१॥

परमहंसपरजनको जनकः सर्वंसहैव जननी ।
[11]रसधायकरघुनायकनायकप्राणसमा या रमणी ॥२॥
तस्या भाति नवीनं चरितं मच्चित्तेऽतिविचित्रम् ।
मिल मिल मनोमोहनं मोहिनि ! जहि जहि मानममित्रम् ॥३॥

परमहंसेति । परमहंसेषु पर उत्कृष्टः स चाऽसौ जनकः, यस्या जनकः पिता, सर्वंसहा भूमिरेव जननी । रसस्य श‍ृङ्गारस्य धायकः धारणकर्त्ता पोषको वा स

---

१. क सं । २. क. स्थगिताविव । ३. क. वक्तमशकु । ख. वक्तुवर्ती । ४. मा कामा ।
५ ख. नाऽस्ति । ६ ख. ०मनुकूलकूलम् । ७. ख. कामा प्राह । ८ ख. सुखमूले ।
९-१०. ख एतन सुलभ । ११. ख. रसद्यायक० ।

चाऽसौ रघुनायकः स चाऽसौ नायकः तस्य प्राणसमा, रमणी या त्वम्, तस्यास्तव मानरूपं नवीनं चरितं मच्चित्तेऽतिविचित्रं अत्यद्भुतं भाति। अपराध्नुयादपि[1] रघुनन्दनः, तथापि तव मानो नोचित इति परमहंसेत्यादिपदद्वयेन व्यज्यते। तेन च [2]मातापित्रोरिवाऽऽर्यमनुवर्त्तस्वेति। नवीनमित्यादिवाक्येनेदानीं त्वं विक्षिप्ता जाताऽसीति व्यज्यते। प्राणसमेत्यनेन न हि कश्चित्स्वप्राणेभ्योऽपराध्नोतीति। तेन च रघुनन्दनस्याऽपराधसम्भावनैव नाऽस्तीति व्यज्यते। हे मोहिनि! मनोमोहनं श्रीरघुनन्दनं मिल मिल। एतेन हे सखि! यदि त्वं मानं करोषि तदा रघुनन्दने मोहनता कथम्, यदा च रघुनन्दनोऽन्यानुरक्तो भवति तदा त्वं मोहिनी कथमिति? तेन च माने सत्युभयोर्मोहनत्वमपयातीति व्यज्यते; तेन चाऽकीर्त्तिर्भविष्यतीति उत्तमस्वभावं[3] त्याजयति। स एव शत्रुस्तस्मान्मानरूपममित्रं[4] जहि जहि नाशय नाशय ॥२-३॥

मा कुरु मुनिमननं मम वचनं मानय मानय धीरे।
विश्वनाथनाथं रघुनाथं कुरु कुरु करे गभीरे ॥४॥

मा कुर्विति। मुनीनामिव मननं मा कुरु। धीरे! मम वचनं मानय[5]। किं ते वचनमित्यत्राऽऽह— विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वा नाथं, हे गभीरे! रघुनाथं करे कुरु कुरु। मननेन श्रीरघुनन्दनो मुनीनामेव प्रसन्नो भवति न तवेति मा कुर्विति वाक्येन व्यज्यते। तेन च परधर्मग्रहणस्याऽनौचित्यमिति। कुरु कुर्विति द्विरुक्त्या[6] कालविलम्बतो[7] यथाऽन्याधीनो रघुनन्दनो न भवेदिति व्यज्यते। रघुनाथस्यैवाऽपराधः केनचिन्मिथ्यैव[8] कथितो वा तर्हि मनस्येव तं रक्ष। यदा अवसर आपतिष्यति[9] तदा यन्मनसि[10] आयास्यति तत्करणीयमिति गभीरपदेन व्यज्यते ॥४॥

प्रगल्भत्वं तस्याः प्रकटमनुभूयोद्गतरुषाम्,
परीहारं[11] सम्यग् वचनरचनाया विदधती।
सखीनां जानक्याः प्रियसहचरी काऽपि चतुरा,
वचांसि व्याजह्रे विशदपदभावार्थघटनम् ॥१॥

---

१. ख. अपराधुपादसि। २. क. मातापित्रोरिवर्यवमनु०। ३. क. ०स्वभाव्य। ४. ख. ०र्मामिरं। ५. क. मान। ६. ख. दुरुक्त्या। ७ क. ख. कालविलंतो। ८. ख. ०मिथ्थैव। ९. क. आपति। १०. क. ख. यन्मसि। ११. ख. परिहारं।

प्रगल्भत्वमिति[1]। उद्गता उत्पन्ना रुट् कोपो यासां ताः तासां, जानक्याः सखीनां मध्ये काऽपि चतुरा प्रियसहचरी तस्याः कामायाः प्रगल्भत्वं प्रकटमनुभूय ज्ञात्वा, वचनरचनायाः परिहारं तिरस्कारं, सम्यग्विदधती सती, विशदा पदस्य[2] भावार्थघटना यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा, वचांसि व्याजह्रे भाषितवती। प्रियसहचरीति जानक्या अभिप्रायज्ञेति व्यज्यते। तेन च तद्वृत्तोत्तरे[3] जानक्याः प्रीतिः। चतुरेति—यादृशवचनरचनया कामावचनतिरस्कारो भवेत्, जानक्या अभिप्रायो न प्रकाशेत तादृशवचनरचनाप्रवीणेति भावः ॥१॥

अनभिज्ञाय भूमिजाभाव प्रवदसि मूढे पण्डितमानिनि !
यौवनादि यदि गदसि दुर्लभं तन्नित्ये संभवति न भामिनि ! ॥१॥

अनभिज्ञायेति। हे मूढे ! पण्डितमानिनि ! त्वं भूमिजायाः[4] श्रीजानक्याः भावमभिप्रायमनभिज्ञाय प्रवदसि। मूढत्वे हेतुमाह यौवनादीति—हे भामिनि ! कोपनशीले ! यदि यौवनादि दुर्लभं गदसि तत्कथनं नित्ये यौवनादौ न सम्भवति। अस्याः सहनशीलत्वाद्यत् तव मनसि आयायात् तत्कथय; अन्यथा कथं कथयेरिति भूमिजाशब्देन व्यज्यते। भामिनीति पदेन युक्तायुक्तकथनाविचारः। तेन च बोधनानधिकारो व्यज्यते। मूढे पण्डितमानिनीति सम्बोधनपदाभ्यां मूढतातिशयो व्यज्यते ॥१॥

एषा विगतमानमदमत्सरमदनोत्थितमानससन्तापा।
न हि कुपिता प्रियतमतनुचिन्तनजनितमानसानन्दकलापा[5] ॥१॥

एषेति। विशेषेण गतः मानश्च मदश्च मत्सरश्च मदनोत्थितो मानसे सन्तापश्च यस्याः सा, एषाऽस्ति। ईदृशी चेन्मानं[6] कथं कृतवतीत्यत्राऽऽह—न हि कुपितेति। तर्हि रासं कुतस्त्यक्तवतीत्यत्राऽऽह—प्रियतमेति। प्रियतमस्य तनोश्चिन्तनेन स्मरणेन जनितः मानसे आनन्दस्य कलापः समूहो यस्याः सा, एतादृगस्ति। विगतेत्यादिविशेषणेन सापत्न्याभावो व्यञ्जितः। तेन च जानक्या उत्तमस्वीयात्वं व्यज्यते। यैर्मुखारुण्याश्रुपातादिभिः कोपं शङ्कसे ते ध्यानानन्दानुभावाः। कुपिता चेत्तर्हि तव वचनानि श्रुत्वा सरोषं निरीक्षेत एवेति न हि कुपितेत्यादौ भावः ॥२॥

---

१. ख. प्रागल्भ्यत्वमिति। २. ख. पदस्य। ३. ख. तद्वृत्तरे। ४. क. भूमियायाः।
५. ०नन्दनंकलापा ६. ख चिन्मान।

अविखण्डितरतिरसपतिमण्डितदम्पतिभेदकरं सङ्कल्पम् ।
जाने जाने जनय न विफल जल्पमनल्पमनेकविकल्पम् ।।३।।

अविखण्डिता रतिर्ययोरत एव रसपतिना शृङ्गारेण परस्परप्रेमातिशयावस्थया मण्डितयोर्दम्पत्योर्जानकीरघुनन्दनयोर्भेदकरं सङ्कल्पं तव जाने जाने: अतोऽनेके विकल्पाः यस्मिन्स तं, जल्पं वाक्याडम्बरं विफलं न जनय । यदि तव सङ्कल्पं न[1] जानीयात्[2], तदा भेदो भवेत् । ज्ञाते सङ्कल्पे कथंत व भेदविधानावकाश इति भावः । अविखण्डितेत्यादिवाक्येन त्वं वचनभेदेन[3] दम्पती प्रतारयसीति व्यज्यते । तेन[4] चाऽहमेव रघुनन्दनेन विहरिष्यामीति तवाऽभिप्राय इति ।।२।।

पाहि पाहि नोचितमासितमिह गदितुमनुचितं न हि सङ्कुचिता ।
विश्वनाथनाथं प्रति कथयति प्रेष्या या प्रेषणविहिता ।।४।।

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहकृते संगीतरघुनंदने
कामावसन्तिकागमनं नाम पंचमः सर्गः ।।५।।

पाहि पाहीति । पाहि पाहि[5], इह तवाऽऽसितमासनमुचितं[6] नाऽस्ति । कुत इति चेत्तत्राऽऽह—यत अनुचितं गदितुं सङ्कुचिता[7] नाऽसि, अतो गत्वा या प्रेषणे विहिता योग्या सा भवता[8] प्रेष्येति, विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वा नाथं रघुनाथं प्रति कथय । विश्वनाथमित्यादिना रघुनाथमप्यबोधविषयं[9] करोतीति व्यज्यते । तेन च मम पक्षो बुद्धिमत्तर इति ।।४।।

इति सिद्धि[10]श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीरामचन्द्रकृपापात्राधिकारि-
श्रीविश्वनाथसिंहकृतायां व्यंग्यार्थचन्द्रिका-
नाम्नि टीकायां पञ्चमः सर्गः ।।५।।

---

१. ख. नास्ति । २. ख. जानीयां । ३. ख. ०भेवन । ४. ख. त्वेन । ५. ख. पाही ।
६. ख. तवासितवासितयासनमुचितं । ७. ख. संकुचित । ८. ख. भावता । ९. ०मप्यवोध० ।
१०. ख. सिद्धः ।

[अथ षष्ठः सर्गः]

अमृतमधुरवाणी भेदभेदे[1] कृपाणी,
सकलगुणनिधानं सर्वविद्यानिदानम् ।
विहितपतिनिदेशं प्राप्य सीताप्रदेशं,
विदितरमणशीला चारुशीला ललाप ।।१।।

अथ च कामया तत्र गत्वा कथिते वृत्तान्ते किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह—अमृतेति । अमृतान्मधुरा वाणी यस्याः सा, भेदस्य भेदे[2] नाशने कृपाणीव, सकलगुणानां निधानं सर्वासां विद्यानां[3] निदानम्, विदितं रमणस्य श्रीरघुनन्दनस्य शीलं स्वभावो यया सा, चारुशीला नाम सखी, सीतायाः प्रदेशं, प्राप्य, विहितः कृतः पत्युः रघुनन्दनस्य निदेश आज्ञा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा, ललाप भाषितवती । श्रीरघुनन्दनसन्तापसन्तप्तहृदयत्वादर्थतोऽपि चारुशीलोच्चैरवोचदिति भावः । अमृतमधुरेत्यादिविशेषणैश्चारुशीलायाः जानकीसमीपगमनयोग्यता । तेन च तत्प्रेषितरघुनन्दनस्याऽभिज्ञता व्यज्यते ।।१।।

प्राप्तरासमुखक्षणोऽपि विलक्ष्यवत्पतिरीक्षणे ।
त्यज विचिन्तनमिह विलक्षणमाशु[4] गच्छ सुलक्षणे ।।२।।

एषा रघुनन्दनसन्तापं श्रुत्वोत्थाय चलिष्यनीति सन्तापं निवेदयति—प्राप्तरासेत्यादिना । प्राप्तः रासमुखस्य[5] क्षणो[6] यस्य एतादृशोऽपि पतिः श्रीरघुनन्दनः, ईक्षणे दर्शने सखीनामिति शेषः, विरुद्ध[7] लक्ष्यं लक्षणीयं यस्य स तद्वत् भ्रान्त इवेति यावत्, दृश्यत इति शेषः । यद्यपि प्राप्तः[8] सखीसमूहस्तथाऽपि त्वां विना क्वचिद् विलपति, क्वचिल्लताः[9] प्रति त्वां पृच्छति, क्वचित्त्वां[10] समागतां मत्वा किमपि कथयतीति भावः । अतः हे सुलक्षणे ! इह विलक्षणं चिन्तनं त्यज, आशु गच्छ च, श्रीरघुनन्दनसमीपमिति शेषः । अत्र विलक्षणमिति पदेन प्रत्यक्षस्य ध्यानमनुचितमिति । तेन च ध्यानं प्रियस्य सुखकारि नेति व्यज्यते । सम्प्रति विक्षिप्तसदृशः यदा विक्षिप्त एव भविष्यति तदा चलित्वा किं करिष्यसीति आशु गच्छेत्यस्य व्यङ्ग्यम् ।।१।।

---

१ क. ०वाणीभेदने । २. क. भेदने । ३. ख. धियानां । ४. ख. ०माशुग । ५. ख. रासमुसुखस्य । ६. ख. क्षणे । ७. ख. विरुध्यं । ८. ख. प्राप्ति ९. ख. कुचिल्लताः । १०. ख. कुचित्वां ।

पाणिगतमपहाय मणिमङ्गीकरोषि[1] सुकाचकम् ।
लक्षसे न हि यत्समक्षमपि प्रिय प्रियवाचकम् ॥२॥

इति कथितेऽप्यनुत्थितां[2] दृष्ट्वाऽह—पाणिगतमिति । यत्प्रियवाचकं प्रियवक्तारं, प्रियं श्रीरघुनन्दनं, समक्षं न लक्षसे, तत्पाणिगतं मणिमपहाय सुकाचकमङ्गीकरोषि । यथा काश्चिन्मणिं[3] त्यक्त्वा स्वबुद्धिकल्पनया मणित्वेन काचं गृह्णन्ति[4] तथा प्रत्यक्षं प्रियवक्तारं प्रियं त्यक्त्वा स्वकल्पितं[5] ध्यानगतमेव प्रत्यक्षत्वेन मन्यस इति भावः । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—प्रत्यक्षमपि श्रीरघुनन्दनं न पश्यसि तर्हि ध्याने कथं पश्येरिति ? तेन च त्वं वृथैवाऽक्षिणी निमीलयसीति ॥२॥

प्रियमुदे प्रियपादचिन्तनमस्ति किं प्रियतापदम् !
मुञ्च मुग्ध दृगञ्चलं मृगलोचनेऽपहराऽऽपदम् ॥३॥

अह तमेव चिन्तयामि, मदुपरि प्रसन्न एव भविष्यतीति चेत्तत्राऽऽह—प्रियमुद इति । प्रियस्य तापदं, प्रियस्य पादयोश्चिन्तनं किं प्रियस्य मुदे प्रीतयेऽस्ति[6] अपि तु नैवाऽस्ति, नहि कश्चित् तापदानेन प्रसीदति[7] इति भावः । अतो हे मृगलोचने ! दृगञ्चलं मुग्ध मुञ्च, आपदं श्रीरघुनन्दनस्य विरहतापमपहर दूरीकुरु । त्वया दृगञ्चले मोचिते स आपन्मुक्तो भविष्यतीति भावः । अत्र मृगलोचने इति सम्बोधनेन निजेन्द्रियाणि पूर्वस्वभावे स्थापयेति व्यज्यते । तेन च ध्यानशैथिल्यं व्यक्त्वा रघुनन्दनं सुखयेति[8] ॥३॥

तं विना न सुखं तवाऽपि न चाऽन्यथा तव चिन्तनम् ।
विश्वनाथसुनाथचरितं वर्णितं कलिकृन्तनम् ॥४॥

तं विनेति । यथा त्वां विना श्रीरघुनन्दनस्य सुखं नाऽस्ति तथा रघुनन्दनं विना तवाऽपि सुखं नाऽस्ति । अन्यथा[9] तव चिन्तनं त्वत्कर्त्तृकं ध्यानं न सम्भवति । एतेनोभयोर्दुःखदं ध्यानं त्यजेति व्यज्यते । विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वा सुनाथयोर्जानकीरघुनन्दनयोश्चरितं वर्णितं सत्कलेः कलहस्य कृन्तनं छेदकं भवति । एतेन यदि युवामेव[10] कलहं कलयथः तदा युवयोश्चरितं[11] वर्णयतां कलहनाशः कथं घटेतेति व्यज्यते । तेन च कलहाद्विरमेति ॥४॥

---

१. ख. मणिम० । २. ख. ०प्यनुत्थितो । ३. ख. कश्चिच्च मणिं । ४. क. गृह्णा । ख. गृह्णाति । ५. ख. सुकल्पितं । ६. क. प्रीतिये० । ७. क. प्रसीद । ८. क. सुखयेति । ९. क. अन्याथा । १०. क. युवामे । ११. क. युवश्चरितं ।

भावं जनकसुताया ज्ञात्वा वचनं चारुशीलायाः ।
साभिप्रायं कमला स्मितानना तामुवाचेदम् ॥१॥

भावमिति[1] । तां चारुशीलां इदं वक्ष्यमाणं यद्यपि श्रीजानक्या ध्यानमेव जानाति तथापि मानच्चरिते रसातिशयः[2] स्यादिति जानकीरघुनन्दनयोरभिप्रायं[3] ज्ञात्वा मानं व्यञ्जयन्ती चारुशीला ध्यानं त्याजयतीति स्मिताननत्वे हेतुः । आश्चर्यमस्याश्चातुर्यमिति स्मिताननेति पदेन व्यज्यते । तेन च तद्रीत्यैवाऽस्या[4] वितरिति[5] ॥५॥

वेत्सि नर्म न देवयोस्त्वं सखि वृथा श्रम एष ते ।
काङ्क्षसे दूतीयशस्त्वयि[6] तन्न लक्षणमीक्ष्यते ॥१॥

वेत्सीति । हे सखि ! देवयोः[7] श्रीजानकीरघुनन्दनयोर्नर्म रहस्यं न वेत्सि । अतस्ते[8] एष वार्त्तारूपः श्रमो वृथा । त्वं मानिन्यनुनयनरूपं[9] दूतीयशः[10] काङ्क्षसे, तस्याः [दूत्याः लक्षणं त्वयि नेक्ष्यते । अत्र वृथा श्रम इत्यनेन वचनाडम्बरं कुर्विति व्यज्यते । तेन च तस्याः अनभिज्ञत्वम् । इदं तावद्दूतीलक्षणं सति मा][11] ने यन्मानमस्थापयित्वैव[12] त्याजयति, "असति माने ईदृग्वचनमनुचितमिति काङ्क्षसे इत्यादिना व्यज्यते"[13] ॥१॥

यत्कृते स्थितयाऽनया ध्यानं न मोक्तुं[14] शक्यते ।
तस्य वेत्ता विश्वनाथप्रियेतरो[15] न विलोक्यते ॥२॥

यत्कृत[16] इति । यस्य कृते स्थितया अनया[17] जानक्या ध्यानं मोक्तुं[18] न शक्यते, तस्य वेत्ता विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वा प्रियात् श्रीरघुनन्दनादितरो न विलोक्यते । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—जानन्नपि[19] जानक्यभिप्रायं श्रीरघुनाथस्त्वादृशीमनभिज्ञां[20] सखीं[21] प्रेषितवान्[22] इति । तेन च तस्मै[23] अपि मानिन्यनुनयनमेव[24] रोचत इति ।

---

१. ख. भनमिति । २. ख. रसातिशया । ३. ख. ०रघुनन्दयो० । ४. ख. तद्दत्यै० ।
५. ख. उक्तरिति । ६. ख, इतियशत्वयि । ७. क वेदयोः । ८. क. ख. अस्ते ।
९. ख. मानिम्यनुन० । १०. ख. इतियशः । ११. [—] कोष्ठस्थोंऽशः क. पुस्तके नाऽस्ति ।
१२. ख. ०मख्यापयित्वैव । १३. "—" चिह्नान्तस्थोंऽशोऽपि क. पुस्तके नाऽवलोक्यते ।
१४. ख. मोस्तुं । १५. क. विश्वनाथतरो । १६ क. अयत्कृत । १७. क. ख अतया ।
१८. ख. मोक्षं । १९. ख. जान्नपि । २०. ०स्त्यादशीमनभिज्ञा । २१. क. ख. सखी ।
२२. क. प्रोषितवान् । २३. ख. तस्यै । २४. ख. मानिन्यतुनंयन० ।

अभिभवमिव मत्वा स्वस्य मध्ये सखीना-
　　मिति निगदितमस्याः[1] साधु नाऽऽकर्ण्य सम्यक् ।
प्रकटितदरकोपा स्वीयनामार्थमानात्[2],
　　पुनरविदितभाव चारुशीला जगाद ॥१॥

अभिभवमिति । सखीनां मध्ये स्वस्याऽभिभवमनादरमिव मत्वा अस्याः कमलाया इति पूर्वोक्तं, साधु निगदितं सम्यक् नाऽऽकर्ण्य, स्वीयस्य चारुशीलेति नाम्नः अर्थस्य मानात्प्रकटितो दर ईषत्कोपो यया सा चारुशीला नाम सखी, न विदिता भावोऽभिप्रायो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा, पुनर्जगाद । चारुशीलेति—श्रीजानकीरघुनन्दनौ मम चारु शील ज्ञात्वा चारुशीलेति मां कथयतः । इयन्तु मां तिरस्करोतीति दरकोपवतीति भावः । रघुनन्दन एवाऽऽयात्विति कमलाभिप्रायमनभिज्ञाय जगादेत्यनेन रसातिशयाय जानक्यां तथैव मानं स्थापितवतीति[3] व्यज्यते । तेन च श्रीरघुनन्दनस्य मानिन्यनुनयनाभिरुचिर्मया[4] ज्ञातवेति ।

प्राप्य मुग्धामिवेमामसि[5] सखी भेदयितुम्प्रियौ ।
सन्दधासि न दम्पती यदिमौ समागतविक्रियौ[6] ॥१॥

प्राप्येति । इमां जानकीं मुग्धामज्ञामिव प्राप्य प्रियौ श्रीजानकीरघुनन्दनौ भेदयितुं सख्यसि । इति कुतो ज्ञातमिति चेत्तत्राऽऽह—यत् यतः, समागता विक्रिया विकारो ययोस्तौ, इमौ दम्पती जानकीरघुनन्दनौ, न सन्दधासि । एषा मुग्धा नाऽस्ति, यदा त्वत्कर्म ज्ञास्यति तदा कोपमेव करिष्यतीति मुग्धामिवेत्यत्र व्यङ्ग्यम् । तेन च त्वं सखीमध्ये न स्थास्यसीति[7] [पूर्वपदेन यदुक्तं रघुनाथादन्यो जानक्यभिप्रायं न जानातीति तर्हि त्व च जानासि चेत्कथमिति][8] कथयसि । जानक्यभिप्रायं जानन्त्यपि तौ न सन्दधती त्वमेव तौ[9] विजयसीति[10] सन्दधासि नेत्यादिवाक्येन व्यज्यते । तेन च त्वमेवाऽपराध्यन्ती[11] मां प्रतारयसीति ॥१॥

मानलाभे मानिनी[12] त्वं मानखण्डनपण्डिता ।
विश्वनाथसुनाथसभा[13] द्विकोटिवनिता मण्डिता ॥२॥

---

१. क. ०मस्या । २. ख. स्वीयनामर्थ० । ३. क. स्थापिवतीति । ४. क. ०रुचिर्णया । ५. ख. ०मिवेसामसि । ६. ख. गतविक्रियौ । ७. क. स्थाप्यसीति । ख. स्थाससीति । ८. [—] कोष्ठगांशस्याऽभावः ख. पुस्तके । ९. ख. नौ । १०. ख. वियोजयसीति । ११. ख. ०ऽपराध्यति । १२. ख. माननी । १३. ख. विश्वनासुना० ।

भयमन्तरा न जायते प्रीतिरिति विचार्य्याऽऽह—मानलाभ इति। मानस्य सत्कारस्य[1] लाभे सति मानिनो भवतीति शेषः। त्वं मानस्य खण्डने पण्डिताऽसि, तदेव शिक्षयसि, येन मानभङ्गः स्यादिति भावयतः[2] विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वा सुनाथस्य रघुनाथस्य सभा द्विकोटिवनिताभिर्मण्डिता। एतेन त्वां विना किं रघुनाथस्य सभा[3] रिक्ता भविष्यतीति व्यज्यते। तेन च मयि गतायां न काऽप्यागमिष्यतीति ॥२॥

एकेन पूर्वमवदत् कमला पदेन,
गीते द्वितीयचरणेन च चारुशीला।
अस्या विशीर्णमवलोक्य सुवाक्यमानं,
सिद्धान्तमेव कमला सकलेन पश्चात् ॥१॥

एकेनेति[4]। गीते पूर्वमेकेन पदेन कमला अवदत्, ततो द्वितीयचरणेन चारुशीला अवदत्,तत अस्याश्चारुशीलायाः सुवाक्यस्य मानं विशीर्णं नष्टमवलोक्य कमला पश्चात् सकलेन गीतेन सिद्धान्तमेव जगाद ॥१॥

युध्यते किमु गम्यतामसमञ्जसं[5] विदधासि किम्।
कथय सखि[6] कमले त्वमेव विचार्य्य समुचितमस्ति किम्[7] ॥१॥

कमला चारुशीलां प्रति वदति—युध्यत इति। त्वया युध्यते किमु? इतो गम्यताम्, किमसमञ्जसं विदधासि? अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—त्वं दूत्यपि समयानभिज्ञाऽसीति। तेन च नाऽयं भवद्दर्शनकालः,[8] किन्तु विनयकाल एवेति व्यज्यते। इति श्रुत्वा चारुशीला विवादं वर्द्धमानमालक्ष्य[9] श्रीरघुनन्दनकार्यसिद्ध्यै मृदूभूय[10] कमलामाह—कथयेति। हे सखि कमले! त्वमेव विचार्य्य कथय सम्यगुचितं किमस्ति? एतेन स्वस्मिन्मानापमानविचाराभावो[11] व्यज्यते। तेन च उत्तमदूतीत्वमिति। श्रीरघुनन्दनगतजानकीविरहदुःखदर्शनसन्तप्तहृदयायाः मम[12] कर्त्तव्ये उचितमनुचितं च न भासते इति भावः।

सेवयैव प्रसाद्यते कविता लता वनिता धनी।
विश्वनाथसुनाथमिति वद गच्छ सम्मतिसाधनी ॥२॥

---

१. ख. त्कारस्य। २. ख. भावः यतः ३. ख. समा। ४. क. एकेने पूर्वंति।
५ ख. ०मसमतसं। ६. क. सरसि। ७. ख. कम्। ८. ख. भयदर्शन० ९. ख. वर्चमान०।
१०. क. मदूय। ११. ख.० मानाऽपमान०। १२. क सम।

इति श्रुत्वा कमलोपायमाह—सेवयेति[1] । कविता तथा लता तथा वनिता तथा धनी सेवयैव प्रसाद्यते इति विश्वनाथं[2] सुनाथं श्रीरघुनाथं वद[3] । सम्मते: साधनी उभयोरैक्यविधायिनीति यावत् । श्रीरघुनन्दनानयनमन्तरा जानकी ध्यानं न त्यक्ष्यतीति सेवयेत्यादौ व्यङ्ग्यम् । तेन च तेनैव त्वदभीष्ट-सद्धिर्भविप्यतीति व्यज्यते ॥२॥

श्रुत्वा वाक्यं रमाया मधुरमतिहितं चारुशीलासुवाचा,
वाचा सन्तोषयिष्यन् प्रचुरचतुरताचारुमाधुर्यभाजा ।
[4]भाजालोल्लासिताङ्गीं प्रियनुतिमतुलप्रेमसञ्जातकामो-
ऽकामो[5] यं वीक्ष्य कामी भवति जनकजामेत्य रामोऽध्यगासीत् ॥१॥

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते संगीतरघुनन्दने चारुशीलाकृतमनुनयनवर्णनं नाम षष्ठ: सर्ग: ॥६॥

श्रुत्वेति । अकामो[6] मुनिरपि जातावेकवचनं, यं वीक्ष्य कामी काम-युक्तो भवति । स राम: चारुशीलाया: सुवाचा, रमाया: कमलाया: मधुरमति-हितं वाक्यं श्रुत्वा अतुलेन प्रेम्णा[7] सञ्जात: कामो जानकीदर्शनाभिलाषो यस्य[8] स:, प्रचुरचतुरताचारुमाधुर्यभाजा[9] वाचा सन्तोषयिष्यन्, भाजालेन प्रभासमू-हेनोल्लासिताङ्गीं, प्रिया नुतिर्यस्या: सा[10] तां[11], जनकजां एत्य प्राप्य अध्यगासीत् गानं कृतवान् । अत्र प्रियनुतिमिति पदेन जानक्या आशुतोषता[12] व्यञ्जिता । तद्भजनेन[13] च स्तुत्या[14] प्रसन्ना रघुनाथापराधं न गणयिष्यतीति[15] स्वाभीष्टमेव श्रीजानकीसेवां कमला कथितवतीति अतिहितमिति पदेन व्यज्यते । तेन च प्रहर्षणालङ्कार इति ।

इतिसिद्ध[16]श्रीमहाराजाधिराजश्रीमहाराजाश्रीराजाबहादुरसिंह-श्री[17]रामचन्द्रकृपापात्राधिकारि[18]श्रीविश्वनाथसिंहकृतायां व्यंग्यार्थचन्द्रिका नाम[19] टीकायां षष्ठ:[20] सर्ग: ॥६॥

---

१. ख. सेवएति । २. ख. विश्वनाथस्य । ३. ख. पद । ४. क.ख. भाजालोल्लोसि० । ५. क. नास्ति । ६. क. आकामो । ७. क. प्रम्णा । ८. ख. रास्य । ९. ख. ०चतुरताचारुता० १०. ख. णा । ११. ख. तं । १२. ख. आष्टतोषता । १३. क. ख. तध्वंजनेन । १४. क. व स्तुत्प्रा । १५ ख. गणिष्यतीति । १६. ख. सिद्ध: । १७. श्रीमन्महाराजाधिराज-सीता । १८. ख. ०पात्राधिकार । १९. ख. नाम्नि । २०. क. षट ख. षष्ट: ।

[अथ सप्तमः सर्गः]

जयति तव रमणि ! चरणकमलम्,
विधिमहेशमाधवमानसमधुकरसेवितममलम्[1] ।।१।।

जयतीति । विधिमहेशमाधवानां मानसान्येव मधुकरास्तैर्मण्डितं भूषितममलं, हे[2] रमणि ! तव चरणमेव कमलं जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । एतेन ब्रह्मादीनां साक्षाद्दर्शनदुर्लभता व्यञ्जिता । दुर्लभतया च नित्यं तद्दर्शनवानहं[3] धन्य इति व्यज्यते ।।१।।

धारणं यद्रजसः[4] सुकृतम्,
रोमरोमजगदण्डमण्डलं पवते मदनगतम् ।।२।।

धारणमिति । यस्य चरणकमलस्य रजसः[5] धारणं सुकृतं, धारणरूपं[6] पुण्यं कर्त्तुमपि अनुगतं प्राप्तं रोमरोमसु जगदण्डमण्डलं पवते पवित्रयति । अत्र खस्य विराजः शरीरितयेत्थमुक्तिः[7] । एतेन त्वच्चरणरजःपूतप्रतिरोमब्रह्माण्डमण्डले[8] मय्यपराधशङ्काभावान्मानं त्यजेति प्रार्थना । तया च ब्रह्मादिपरश्रीरघुनन्दनसेवितचरणरजस्कत्वात्तस्याः सर्वतः परत्वं[9] व्यज्यते ।।२।।

सरसयावकमरन्दवलितम्,
वरतलललितान्तस्कामदरेखाकेशरकलितम्[10] ।।३।।

सरसेति । सरसं यद्यावकं तदेव मरन्दस्तेन वलितं युतं, वरं सुन्दरं तलमेव ललितमन्तरं कमलमध्यं[11] तत्र कामदरेखा एव केशरास्तैः कलितम् । अत्र कामदपदेन तव चरणरेखास्तावकं[12] मां पूर्णमनोरथं करिष्यन्त्येवेति व्यज्यते । तेन च तव मानकरणं निष्फलमिति ।।३।।

नखरजलपृषदङ्गुलीदलम्[13],
विश्वनाथमानसमरालवरपरिषेवितमचलम्[14] ।।५।।

नखरेति । नखरा एव जलस्य पृषन्ति[15] विन्दवो यस्मिंस्तत्, अङ्गुल्य

---

१. ख. ०मधुकरमण्डित० । २. क. हरे । ३. क. तद्दर्शनवाहं । ४. ख यद्रतसः ५. ख. जसः । ६. ख. धारणरयं । ७. ख. शरीरतये० । ८. क. ०पूतप्रतिरोष० । ९. क. सत्त्वं । १०. ख. ललितान्तरकामद० । ११. क कमल मध्य । १२. ख. चरणरेशा० । १३. नखरजत० । १४. क. परिषेचित० । १५ क. पृपंत ।

एव दलानि यत्र तत्, विश्वनाथमानसमेव मरालवरो हंसश्रेष्ठस्तेन परिषेवितम्, अचलं स्थिरम् । विश्वनाथेत्यादिना सदा मम मनस्त्वच्चरणासक्तमेवेति[1] व्यज्यते । तेन च प्रसीदेति । अचलमिति पदेन सम्प्रति सर्वथा कमलसमतया शोभितं चरणं स्वगतिविलासेनाऽधिकं[2] विधेहीति व्यज्यते ।।४।।

जयसि सर्वेशमणिमुकुटवन्द्ये[3] स्ववशरसमयतनो !
विमलमुन्मयमनो बहुलविबुधेन्द्रवनिताभिनन्द्ये ! ।।१।।

जयसीति । सर्वेशाः ब्रह्मादयस्तेषां मणिः श्रेष्ठः परनारायणः तस्याऽपि मुकुटः श्रेष्ठोऽह तेन वन्द्ये[4] ! त्वं जयसीत्यन्वयः । एतेन सकलेशप्रणतपदारविन्देन[5] मयाऽपि[6] स्तूयमानां मानिनीं त्वामन्यः को नु प्रसादयिष्यतीति व्यज्यते । तेन चाऽनुनयस्याऽवधिरिति । स्ववशा स्वाधीना[7] रसमयी आनन्दरूपा तनुर्यस्याः सा तत्सम्बुद्धिः, स्वतन्त्रां भवन्तीं किमहमाज्ञापयामि[8], स्वयमेव जानीहीति स्ववशेति पदेन व्यज्यते । रसमयतनो[9] इति विशेषणेन आनन्दमयशरीरेण मह्यं दुःखदानं तव नोचितमिति व्यज्यते । विमलो मुन्मय आनन्दरूपो मनुर्मन्त्रो[10] यस्याः सा तत्सम्बुद्धिः । एतेन त्वदानन्दमयनामरूपमन्त्रजपकर्त्तुर्मम कुतो न विरहतापं दूरीभवतीति चित्रमिति व्यज्यते । बहुलाभिर्विबुधेन्द्राणां ब्रह्मादीनां वनिताभिरभिनन्द्ये[11] एतेन पातिव्रत्ये श्लाघमानाः सकलपतिव्रताः सम्प्रति मानमजहन्तीं त्वां हसिष्यन्तीति व्यज्यते । तेन च तासां सख्यमिति । विबुधेन्द्रा अत्र ईशमहेश्वरेत्यादिपदव्याख्योक्ताः साकेतवासिनो विवक्षिताः[12] ।।१।।

इन्दिरामन्दिरारुणचरणपङ्कजे ! भूक्रियावदनदर्पणनखाली ।
सद्गुणालङ्कृते केलिविधिपण्डिते प्रिये ! मम मञ्जुमानसमराली ।।२।।

इन्दिरामन्दिरेति[13] । इन्दिरायाः श्रीदेव्याः मन्दिरं निवासस्थानं अरुणचरणमेव पङ्कजं यस्याः सा तत्सम्बुद्धिः, भूक्रिययोः भूदेव्या लोलादेव्याश्च[14] वदनस्य दर्पणे[15] नखाली नखपङ्क्तिर्यस्याः सा, एतेन एताभिस्तिसृभिर्मम[16] मुख्यशक्तिभिः सेवितपदारविन्दा सापत्न्याभाववती त्वं कुतो मानं कृतवतीति

---

१. क. ख चरणाशक्त० । २. ख. स्वागति० । ३. ४. ख, वंद्ये । ५ ख. शकलेश० । ६. ख. मद्यापि । ७. क. स्वाधीना । ८. ख. किमहप्राज्ञा० । ९. ख. रसमयततो । १०. क. मनमंत्रो । ११. क. नंद्या । १२. ख. विविक्षिता । १३. क. नास्ति । १४. ख. लीलायाश्च । १५. ख. दर्पणो । १६. ख. तिसृमिर्म ।

व्यज्यते । सद्गुणेत्यनेन पत्या स्तूयमानायास्तवाऽक्षिणी[1] निमील्योपवेशनं नोचितमिति व्यज्यते । केलिविधिपण्डितेत्यनेन तवाऽविधिकरणं नोचितमिति व्यज्यते । तेन च त्वया लीलार्थमेव मानः कृत इति । मञ्जुमानसमरालेत्यनेन मम कश्चिदपराधो न वेति त्वमेव विवेचयेति[2] व्यज्यते ।।२।।

सततमनमर्षिणी[3] रसराजवर्षिणी,
रतिमानकर्षिणी दीप्तिराशेः ।
जलधिनिमिराजकुलजनितसुकलानिधे,
ज्वलितमदनानलज्वरविनाशे ! ।।३।।

सततमिति । अनमर्षिणी कोपशून्या, एतेनेदानीं त्वयि कोपः कुत आगत इति व्यज्यते । रसराजस्य शृङ्गारस्य वर्षिणी, एतेन त्वयि विद्यमानायामपि[4] कुतस्ताप[5] इति रसशब्दश्लेषमहिमा[6] व्यज्यते । रतेर्मानस्याऽभिमानस्य कर्षिणी, एतेन मत्प्रीतिपात्रं त्वदन्या नाऽस्त्येवेति व्यज्यते । तेन च मानानौचित्यमिति । दीप्तेः छवेः[7] राशेर्जलधिरिव यन्निमिराजकुलं तत्र जनितः[8] सुकलानिधिस्तत्सम्बुद्धिः[9] । एतेनेदृशकुले जातायास्तवेदृशं चरितं नोचितमिति व्यज्यते । ज्वलितस्य मदनानलज्वरस्य विनाशो यस्यास्तत्सम्बुद्धिः । एतेन जानक्याः सन्तापनाशकस्वभावत्वम् । तेन च मामालिङ्ग्य सुखयेति व्यज्यते । ३।।

चित्रमिदमत्र यद्दहति तनुमतनुरिह तव समीपेऽपि मामिवानाथम् ।
मानमवमुञ्च परिषिञ्च वचनामृतैरिति[10] वदन्हरिरवतु विश्वनाथम् ।।४।।

चित्रमिति । इह तव समीपे अतनुः[11] कामः, अनाथमिव तनुं[12] कृशं[13] मां यद्दहति—इदमत्र चित्रम् । अतो मानमवमुञ्च त्यज । वचनामृतैः परिषिञ्चेति[14] वदन् हरिभक्तार्त्तिहर्त्ता श्रीरघुनन्दनः विश्वनाथमवतु । चित्रमित्यादिवाक्येन त्वादृशसमर्थनाथसमीपे[15] मम तथा मदनकृतदाहस्य विषादो न भवति यथा[16] तव सामर्थ्यहानेरिति व्यज्यते । तेन च रक्षैव कर्त्तव्येति । परिषिञ्च

---

१ तवाक्षिणि । २. ख. विचारयेति । ३. ख, सततमण० । ४ क. विद्यमानयांमपि । ५. क ०स्तापे । ६. ख. श्लेषमहिम्ना । ७ ख. क्षेवः । ८ जानिता । ९. ख सकुलानिधि० । १०. ख. ०मृतौगिति । ११. ख अतनः । १२ ख. नास्ति । १३. ख. कुसं । १४. ख. परिषिचति । १५. ख. त्वादृसमर्थ० । १६. क. तथा ।

वचनामृतैरित्यनेन त्वद्वचनेनैव मम जीवनमिति व्यज्यते । स्वरक्षणप्रार्थनेने-दृशविरहस्य वर्णने कवेर्भीतित्वं[1] व्यज्यते ।।४।।

वाञ्छितदे[2] कलगीते सीते !
तव शृङ्गारविधावभिलाषं पूरय मयाऽनुगीते ।।१।।

एतावताऽप्यनपगते माने एषा ध्यानमेव करोतीति विचार्य प्रार्थयन्नाह—वाञ्छितदे इति । हे वाञ्छितदे, कलगीते ! कलगीतं गानं यस्यास्तत्सम्बुद्धिः, मयाऽनुगीते तव शृङ्गारविधौ[3] ममाभिलाषं पूरय । अत्र कलगीते इति विशेषणेन गीतज्ञोऽन्यगीतं[4] श्रुत्वा मौनो न भवतीति व्यज्यते । तेन च मम गीतं सदसद्वेति कथयेति । सिनोति बध्नाति जीवानिति सिनोतेर्विच्प्रत्यये कृते 'सि' संसारबन्धनं[5] तत्[6] इतं गतं यस्याः सा सीता, संसारबन्धननिर्मुक्तिहेतुरित्यर्थः । एतेन यस्यास्तव नामैव संसारबन्धनं मोचयति,[7] सा त्वं स्वकीयं ध्यानं बन्धनं न मुञ्चसीति चित्रमिति व्यज्यते । स्यति हन्ति दुःखानि स्वभक्तानामिति स्यतेरौणादिक ईतक्प्रत्यये सीता, स्वीयदुःखहन्त्रीत्यर्थः[8] । एतेन मानसम्भावनया दुःखितानां सखीनां दुःखं यदि ध्यानं त्यक्त्वा न[9] दूरीकरोषि तदा तव नाम्नो वैयर्थ्यं भवेदिति व्यज्यते । एन विष्णुना सहितः सा समुद्रः, विष्णोः समुद्रशायित्वात् तस्यापत्यं स्त्री सी लक्ष्मी तद्वदिता प्राप्तेति सीता, यथा विष्णुना लक्ष्मीः प्राप्ता तथा श्रीरघुनन्दनेन सीतेत्यर्थः[10] । एतेन लक्ष्म्यास्तु एतादृशं ध्यानं न श्रुतं, त्वं कथं करोषीति व्यज्यते । यद्वा इना सहितं सि सकामं श्रीरामचन्द्राभिधं ब्रह्म तदिता[11] प्राप्तेत्यर्थः । श्रीरामचन्द्रः कामपूरक इति यावत् । एतेनेदानीं ध्यानं त्यक्त्वा मम कामान् कथं न पूरयसीति व्यज्यते ।।१।।

विलसितमृदुतरपदपद्मं ते मुनिमनसामनुमेयम् ।
तदुपलम्भनं शयस्य भविता किमतः परं विधेयम् ।।२।।

शृङ्गारविधाने तव को लाभ इति चेत्तत्राह—विलसतीति । मुनिमनसामनुमेयं अनुमातुं योग्यम्, ते मृदुतरपदपद्मं विलसति शोभते । तस्य तव चरणकमलस्य उपलम्भन स्पर्शो मे शयस्य करस्य भविता[12] भविष्यति । अतः परं किं विधेयम् ? न किमपीत्यर्थः । तव चरणसेवातोऽधिकः कोऽपि पदार्थो

---

१. ख. ०र्भीतत्वं । २. ख. वांक्षितदे । ३. ख. शृङ्गाविधौ । ४. ख. गीतज्ञाऽनन्यगीत । ५. ख. ०बन्धनकर्तृ अज्ञानं । ६. ख. नत् । ७. ख. मोक्षयमि । ८ ख. स्वीयदुःखश्रीस्यर्थः । ९. ख. नि । १०. सीत्यर्थः । ११. क. नदिता । १२. ख भाविता ।

नाऽस्तीति भावः । विलसतीत्यादिना[1] ज्ञानेन्द्रियसाक्षात्कारेऽपि न कामिनां कामसन्तापहानिः, किन्तु कर्मेन्द्रियव्यापारादेवेति व्यज्यते । तेन च मद्दर्शनादेवाऽयं सुखीति त्वया न विचारणीयमिति । किमतः परं विधेयमित्यनेन त्वत्प्रसादो भविष्यत्येवेति व्यज्यते । तेन च मम तापहानिर्भविष्यत्येवेति ॥२॥

न समाधिं मुञ्चसि न च कलयसि मामुपगतमुपकण्ठम् ।
स्वेदसुगन्धितनिजगलमालामुपगमये तव कण्ठम् ॥३॥

स्ववचनाश्रवणात् ध्याने समाधिं सम्भाव्याऽऽह[2] न समाधिमिति । त्वं समाधिं न मुञ्चसि, न च उपकण्ठं समीपमुपागतं प्राप्तं मां कलयसि जानासि[3] । स्वेदेन[4] सुगन्धिता चाऽसौ निजगलस्य माला च तां, तव कण्ठमुपगमये प्रापये । अत्र पतितायां मालायां समाधिर्न स्थास्यतीति श्रावणे सखीनां दौश्चित्यहरणमाशयः । एतावताऽपि यदि समाधिं न मुञ्चसि तदा तदिदं ध्यानं सत्यं मंस्ये[5] ज्ञास्यामीति[6] । विश्वनाथनाथस्य निगदितं सरसं रसरूपभक्तिसहितं सौमत्यं सुमतिभाव, रसरूपभक्तिसहितं ज्ञानं दिशतु ददातु इत्यर्थः । एतेन शुष्कज्ञानं वर्ज्यमिति व्यज्यते । तेन च समाधिमित्यादिचरणत्रयेण प्रियोपभुक्तवस्तुसंसर्गस्याऽतिमनःक्षोभकत्वम्[7] । तेन च समाधिसङ्गमसुखात् साक्षात् सङ्गमसुखाधिकमिति व्यज्यते ॥३॥

निमिराजसुता विचिन्तयन्ती रमणं रासपरायणं हृदब्जे ।
समवाप्य सुमालिकासुगन्धं सहजस्नेहसमाकुलाऽऽलिलिङ्ग[8] ॥१॥

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सगीतरघुनंदने
श्रीजानकीसमागमो नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

निमिराजेति स्पष्टम् । अत्र सहजस्नेहेत्यनेन यथापूर्वमिति व्यज्यते । तेन च मानात्यन्ताभाव इति ॥१॥

इति सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंहकृतायां व्यंग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीकायां पञ्चमः सर्गः ॥७॥[9]

———

१. क विलसीत्यादिना । २. ख. समावाह । ३. क. जानसि ४. ख. खेदेन ।
५. ख. मंसे इ । ६. ख. ज्ञास्यामि इति ७ क. ०संसर्गस्यातिमनःक्षीपकत्वं ।
८. ख.०र्लिंग । ९. ख. इति सिद्धः श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीमहाराजश्रीराजाबहादुरसीतारामचंद्रकृपापात्राधिकारविश्वनाथसिंहकृतायां व्यंग्यार्थचंद्रिकानाम्नि टीकायां सप्तमः सर्गः ॥७॥

[अथ अष्टमः सर्गः]

परस्परं तावतिविभ्रमेण भृशं विषक्तावभिवीक्ष्य कान्तौ ।
रहःसखी कामपि काऽपि काम समुद्गतानन्दभर बभाषे[1] ॥२॥

परस्परेति । रहःसखी एकान्तसखी, विभ्रम आनन्दजनितः परस्परमिलनयोरातुरतातिशयस्तेन[2] विषक्तौ गाढमिलितौ । एतेनोभौ परस्परमेकीभवनमिच्छत इति व्यज्यते । तेन च प्रेम्णः परा काष्ठेति । रहःसखीत्यनेन जानकीरघुनन्दनयोस्ततो लज्जाभावो व्यज्यते ॥२॥

पश्येमौ सुखसिन्धुनिमग्नौ रूपराशिसम्भरणासक्तौ[3],
न हि तृप्तौ मनसा संलग्नौ ॥१॥

पश्येति । हे सखि ! इमौ जानकीरघुनन्दनौ पश्य । सुखसिन्धुनिमग्नौ, रूपराशेः सम्भरणे आसक्तौ, तथाऽपि न हि तृप्तौ, मनसा सलग्नौ । न हि तृप्तावित्यनेनोभयोर्नवनवच्छवेरालोकनं व्यज्यते । तेन च तयोरुत्कण्ठाधिक्यमिति ॥१॥

[4]बिम्बतनुप्रतिबिम्बितविनिमिषदम्पतिदृग्विगलत्सुखनीरम् ।
मन्येऽतनुकृतविश्वनाथहितमन्दिरदेवस्नपनक्षीरम् ॥२॥

विम्वेति । विम्बाभ्यां तनुभ्यां प्रतिविम्बिते इतरेतरशरीरप्रतिविम्वशोभिते[5] विनिमिषे निर्निमेषे[6] ये[7] दम्पत्योर्जानकीरघुनन्दनयोर्दृशौ[8] नेत्रे ताभ्यां विगलत्सुखनीरं, अतनुना[9] कामेन कृतं च तत् विश्वनाथहितयोर्मन्दिरदेवयोर्जानकीरघुनन्दनप्रतिमयोः [स्नपनस्य क्षीरं च तत्, अहं मन्ये । स्नपनजलं दृश्यते, स्नापायिना न दृश्यतेऽतोऽतनुरित्युक्तम् । मन्दिरदेवोपमया प्रतिबिम्बस्य निश्चलत्वं व्यज्यते । तेन चोभयोः स्तम्भ इति][10] ॥२॥

दम्पतिमिलने प्रमदागणकृतजयजयशब्दकदम्बम् ।
बहुजगदण्डभाण्डसंश्रयरुचिगोभुवने लभते नाऽऽलम्बम् ॥१॥

---

१. ख. बभावे । २. क. सरस्पर० । ३ ख. रूपिरास० । ४. ख. विंवतनुप्रतिविंवतूतू । ५. ख. ०शोभित । ६ ख. निर्मिमेषे । ७. ख. षे । ८. ख. दृशं । ९ ख. अतनुता । १०. [—] कोष्ठगतोंऽशो नाऽस्ति ख. पुस्तके ।

'दम्पतीति । दम्पत्योर्जानकीरघुनन्दनयो[1] र्मिलने[2], प्रमदागणेन कृतं जय-जयेति शब्दस्य कदम्बं, बहूनां जगदण्डभाण्डानां संश्रया आधारभूता रुक् प्रकाशो यस्य तस्मिन् गोभुवने गोलोके, आलम्बमाधारं न[3] लभते न प्राप्नोति, गोलोकाद्बहिर्निर्गत[4] इत्यर्थः । अत्र बह्वित्यादिविशेषणेन[5] गोलोकस्याऽति-महत्त्व व्यज्यते । तेन च ध्वनेरत्याधिक्यमिति ॥१॥

वीणातोयतरङ्गमृदङ्गध्वनिरवगम्यत इह सुविचारे ।
मन्दीकृतानाहतारावो विश्वनाथसम्मदविस्तारे ॥२॥

वीणेति । विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वा, सम्मदस्याऽऽनन्दस्य विस्तारो यत्र, तत्रेह दम्पतिमिलने[6] मन्दीकृतोऽनाहतारावोऽनाहतध्वनिर्येन स, वीणा-यास्तोयतरङ्गस्य मृदङ्गस्य च ध्वनिः, शोभने विचारे सति अवगम्यते ज्ञायते । यथाऽनाहतशब्दे वीणादिशब्दाः एकाग्रमनसा सूक्ष्मविचारमन्तरा[7] न ज्ञायते तथाऽत्राऽपीत्यर्थः । मन्दीकृतेत्यादिना[8] वीतरागानपि अनाहताराव-सुस्वादपकृष्य स्वस्मिन्नुत्कण्ठतीति व्यज्यते । तेन चाऽस्य ध्वनेर्घनानन्दजनक-त्वम् ॥२॥

[9]पूर्णानन्दपयोधिमग्नहृदयां संस्थाप्य सिंहासने,
मुक्तादाममहार्हचैलनिचयं सम्भ्राम्य दास्यै[10] ददौ ।
तां संस्नाप्य महोपचारनिकरैर्नीराज्य[11] पुष्पाञ्जलिम्,
दत्वाऽऽस्तूय विनम्य नम्रशिरसा रामो रमामार्च्चयत्[12] ॥१॥

पूर्णानन्देति । रामः पूर्णानन्दपयोधौ मग्नं हृदयं यस्याः सा तां[13] जानकीं, सिंहासने संस्थाप्य, मुक्तादाम्नां महार्हाणां बहुमूल्यानां चैलानां च निचयं सम्भ्राम्य, दास्यै इति जातावेकवचनं[14] दासीभ्य[15] इत्यर्थः, ददौ । तां[16] संस्नाप्य, नीराज्य[17], पुष्पाञ्जलिं दत्वा 'ऽऽनम्य प्रणम्य'[18] विनम्रशिरसा[19] आस्तूय अतिशयेन स्तुत्वा, महतामुपचाराणां निकरैः आर्च्चयत् अर्चितवान् ।

---

१. '—' चिह्नान्तःस्थितांशस्याऽभावः ख. पुस्तके । २. ख. मिलिते । ३. ख. च ।
४. ख. गोलोकादव्यूर्द्ध्वं निर्गत । ५. ख. बहित्यादि० । ६. ख. ०मिलिने ।
७. ख. रुक्ष्मविचारमंतग । ८. क. मंदिकृते० । ९. क. पूर्णानंदपयोधिमय० ।
ख. पूर्णानंदयोधिमग्न० । १०. क. दास्य । ११. क. ०र्नीराज्य । १२. ख. रामामा० ।
१३ ख. जां । १४. क. ०वचनो । १५. ख. दासीत्य । १६. ख. तासा ।
१७.. ख. तीराज । १८. '—' चिह्नगोंऽशो नैव दृश्यते क. पुस्तके । १९. ख. नम्रशिरसा ।

अत्र विधेर्व्यतिक्रमेण प्रेमातिशयो व्यज्यते । तेन च प्रेमवतां विधिवैगुण्यं न दोषमावहतीति ।।१।।

पूजितसीतां वीक्ष्य सुमानिस्वामिना[1],
समवर्षन् कुसुमानि मनोहरपाणिना[2] ।
समगायन् गीतानि गलेन सुनादिना,
विश्वनाथवनिताश्च पिकध्वनिवादिना ।।१।।

अथ किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह—पूजितेत्यादि । विश्वनाथस्य रघुनन्दनस्य वनिताः सख्यः, अथवा विश्वनाथ एव वनिताः सखीरूपेण रासप्राप्ताः ब्रह्मादयः, सुमानिस्वामिना श्रीरघुनन्दनेन, पूजितां सीतां वीक्ष्य, कुसुमानि समवर्षन्, पिकध्वनिना वदति तच्छीलेन, सुनादिना शोभननादवता गलेन, गीतानि च समगायन् । समगायन्नित्यादिपदेन सख्यो जानकीरघुनन्दनयोः कामोद्दीपनमकुर्वन्निति व्यज्यते । तेन च तासां रासकरणोत्कण्ठातिशय[3] इति । चारुशीला विश्वनाथसभा द्विकोटिवनितामण्डितेति वाक्येन एकां[4] जानकीं[5] विना यस्य लीलाहानेरभाव[6] व्यञ्जितवती, स एव रघुनन्दन इदानीं स्वेष्टदेवतामिव पूजयतीति सख्यो निजस्वामिनीविजयं मन्यन्त इति सुमानिस्वामिनेति पदेन व्यज्यते ।।१।।

अथ सीतां सुप्रीतां समीक्ष्य रामोऽकरोत्तदङ्गेषु ।
पादादिषु संस्कारं यावकपादाङ्गदादिविन्यासैः[7] ।।५।।

अथ सीतामिति । अथ पूजनानन्तरं, रामः सीतां सुप्रीतां अतिप्रसन्नां समीक्ष्य, पादादिषु तस्या अङ्गेषु, यावको लाक्षारसः,[8] पादाङ्गदं नूपुरं एतदादीनां सकलाभरणानां विन्यासैः संस्कारमकरोत् । सुप्रीतामित्यादिना श्रीरघुनन्दनो मम चरणं स्पृशतीति स्मृतिरेव नाऽभवदिति व्यज्यते । तेन चाऽऽनन्दसम्मोह इति ।।१।।

रघुनन्दनो जनकात्मजाचरणारविन्दसुकोशयोः ।
चित्रे विधायाऽलक्तकेन चकार संशयमेतयोः ।।१।।

---

१. क. ०स्वमानिमा । २. क. मतोहर० । ३. क. रासकरणोत्कंठाशिशय ।
४—५. क. एका जानकी । ६. क. ०रभावन । ७. ख. ०विन्यासे । ८. ख. लाक्षारसं ।

शृङ्गाररचनामेव गीतेन निरूपयति—रघुनन्दन इति । रघुनन्दनः जनकात्मजाचरणारविन्दसुकोशयोरलक्तकेन चित्रे[1] विधाय, एतयोश्चित्रयोः सहजेत्यादिना वक्ष्यमाणं संशय चकारेत्यर्थः[2] ॥१॥

सहजारुणच्छविसन्ततिः शयशोणता[3] किमु सङ्गता ।
अनुरागविचरणपद्धतिः किमु भाति यावकरक्तता ॥२॥

संशयमेवाऽऽह—सहजेति । सहजा स्वाभाविकी चरणस्याऽरुणच्छवेः सन्ततिः पङ्क्तिः भाति किमु ? मम शयस्य हस्तस्य शोणता सङ्गता[4] लग्ना[5] भाति किमु ? अनुरागस्य तस्यां मम प्रीतेः विचरणक्रियायाः पद्धतिः मार्गो भाति, अथवा अन्तवर्द्धमानस्य[6] चरणद्वारा निःसरतो[7] जानक्याः अनुरागस्य विचरणपद्धतिर्भाति । किमु यावकस्य रक्तता भाति । रघुनन्दनेत्यादिगीतद्वयेन[8] जानक्या अङ्गानि स्वच्छविभिरेव सालङ्काराणि इति व्यज्यते । तेन च सौभाग्यद्योतनाय तत्करणमिति ॥२॥

अतिनीलमणिमयनूपुरभ्रमरावलिर्विनिवेशिता ।
कुचभारभङ्गुरमध्यभङ्गभियेव रसनाऽऽरोपिता ॥३॥

अतिनीलेति । किञ्च श्रीरघुनन्दनेन तस्याश्चरणकमलयोः अतिनीलमणिमयो नूपुर एव भ्रमरावलिर्विशेषेण निवेशिता, कुचभारेण भङ्गुरस्य नम्रस्य मध्यस्य कटेः भङ्गभियेव, रसना क्षुद्रघण्टिका, आरोपिता । अतिनीलमणिमयेति विशेषणेन भ्रमराणां तारुण्यम् । तेन च मत्तत्वम् । तेन चाऽधिकमधुरध्वनिजनकत्वं व्यञ्जितम् ॥३॥

मृगनाभिमकरीपत्रभङ्गविशेषलेखमुरोजयोः ।
अकृतार्हणामिव शुचिसुमङ्गलशातकुम्भककुम्भयोः ॥४॥

मृगनाभीति । उरोजयोः कुचयोः, मृगनाभेः कस्तूर्या मकरीपत्रभङ्गस्य विशेषलेखं, शुचेः शृङ्गारस्य सुमङ्गलशातकुम्भककुम्भयोः[9] मङ्गलकनककलशयो-

---

१. ख. चित्र । २. क. कारेत्यर्थः ३. क. शयशोशोणता। ४—५. क. संगलग्ना ।
६. क. ख. ०वर्द्धमाननि । ७. ख. निःसुरतों । ८. क. ०त्यादिमितद्वयेन ।
९. क. शातकुंभकयोः ।

र्हणां[1] पूजामिव अकृत । अत्र सुमङ्गलेत्यादिना शृङ्गारलीलायाः पूर्वच्छेदो[2] मा भूदिति रघुनन्दनाभिप्रायो व्यज्यते । तेन च रासादिलीलायामतिप्रीतिरिति । तेन च तद्वियोगासहिष्णुत्वम् ॥४॥

काश्मीरजकस्तूरीकर्द्दमसङ्कलनेन[3] कपोलम् ।
चित्रयति स्म विचित्रचमत्कृतिमारमुकुरमिव गोलम् ॥५॥

काश्मीरेति । विशेषेण चित्रा आश्चर्यजनका चमत्कृतिर्यत्र स चाऽसौ मारमुकुरः कामस्याऽऽदर्शः तमिव, गोल कपोल, काश्मीरजकस्तूर्य्योः कुङ्कुम-मृगमदयोः कर्द्दमस्य सङ्कलनेन सम्यग्रचनेन, चित्रयति स्म चित्रीचकार । अत्र विचित्रचमत्कृतीत्यनेन कपोलः स्वकान्ताकेशप्रतिबिम्बकान्त्या[4] च स्वयमेव चित्रित इति व्यज्यते । तेन च चित्ररचनावैयर्थ्यम् । तेन[5] च तत्करणं[6] कपोल-स्पर्शनार्थमिति ॥५॥

अलिके न्यधित हीरकं तिलकं मृगमदमयमतिविमलम् ।
अङ्कवधूकं यदपि तदुपमामङ्कि नैतु शशिशकलम् ॥६॥

अलिके न्यधितेति । अलिके ललाटे, अतिविमलं हीरकं, मृगमदमयं तिलकं च न्यधित धृतवान् । ललाटमध्ये हीरकबिन्दुं 'बेंदीति' लोके प्रसिद्ध-माधाय तत्परितः कस्तूरीबिन्दूश्चकारेत्यर्थः । अङ्के क्रोडे वधूर्यस्य तत्, अङ्कि कलङ्कसहितं, ईदृशं शशिशकलं चन्द्रखण्डं[7] यदपि स्यात् तथाऽपि तस्य ललाटस्य उपमां सादृश्य[8] नैतु न प्राप्नोतु । अत्राऽर्द्धचन्द्रसादृश्याभावात् तस्य सर्वाधिक्यं व्यज्यते । तेन च सौन्दर्यातिशय इति ॥६॥

अञ्चति स्म कवरीमिभमुक्तासमुदायेन सकामम् ।
कालिन्दीमिव विशदकलिन्दजकुन्दचयैरभिरामम् ॥७॥

अञ्चति स्मेति । इभमुक्तासमुदायेन गजमुक्तासमूहेन, सकामं अभि-रामं च यथा तथा[9], कवरीकेशपाशमञ्चति[10] स्म पूजयामास । कैः कामिव,

---

१. ख. ०कनककलयो० । २. ख. पूर्वार्द्धच्छेदो । ३ क. ०संकलेन । ख. ०वर्द्दनसकलनेन । ४. क. स्वकान्त्या० । ५. क. ते । ६. क तत्करणं । ७. ख. चन्द्रः खंडं । ८. क. सादृशं । ९. ख. यथा । १०. ख. कवरीं केश० ।

विशदैरुज्ज्वलैः कलिन्दजैः कलिन्दपर्वतोद्भवैः कुन्दचयैः कालिन्दीं यमुनामिव । यथा स्वमनोरथसिद्धये कश्चिद्यमुनामर्च्चयति तथा[1] रासोत्सवसिद्धये अर्च्चति स्मेत्यर्थः । अत्र कालिन्दीमिवेत्यनेन[2] केशेषु श्यामता गम्भीरता च व्यज्यते । तेन च छविच्छटालहरीति ॥७॥

चूडामणिं शिरसि सिन्दूरं न्यदधादधिसीमन्तम् ।
किं तनुधरसुखरतिरधियमुनं भजति विश्वनाथं तम् ॥८॥

चूडामणिमिति । शिरसि[3] चूडामणिं,[4] अधिसीमन्तं सीमन्ते[5] सिन्दूरं च न्यदधात्[6] । तत्रोत्प्रेक्षते—किं अधियमुनं यमुनायां, तनुधरसुखेन सहिता रतिः, तं विश्वनाथं श्रीरघुनाथं भजति । अत्रैतद्व्यङ्ग्यम्—तपस्विनां[7] महादेवः[8] प्रसीदति, एतयोरपि श्रीरघुनाथः प्रसन्नो भविष्यतीति व्यज्यते । तेन च प्रसादात्प्रथमतः[9]:प्रीतेश्च शरीरलाभ इत्यन्तातिशयोक्त्यलङ्कार[10] इति ॥८॥

स भूषयित्वा[11] निखिलाङ्गभूषणै—
विधाय तस्याः सुदृशोः शुभाञ्जनम् ।
महार्हवस्त्रं परिधाप्य सत्तनौ[12],
ताम्बूलवीटीं प्रददौ प्रियामुखे ॥९॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार[13]—श्रीविश्वनाथसिंहविरचिते संगीतरघुनंदने श्रीजानकीभूषणविधानं[14] नामाऽष्टमः सर्गः ॥८॥

स भूषयित्वेति स्पष्टम् । भूषणादिविधाने प्राणप्रियाङ्गस्पर्शजातकम्पेनाऽसामर्थ्यमिति[15] प्र-पदेन व्यज्यते । तेन च वीटिकादाने अतिप्रयास[16] इति ॥९॥

इति सिद्धि[17]श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंहकृतायां व्यंग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि[18] टीकायामष्टमः सर्गः ॥८॥

---

१. क यथा । २. ख. कालिमिवे० । ३. ख. शिर । ४. ख. चूडामणिः । ५. ख. सीमन्तं । ६. ख. न्यदधात् । ७. ख. तपस्विना । ८ ख. महादेवा । ९. क ०प्रथमः । १० ख. इत्यत्यंनातिशयोक्तलंकार । ११. क. भूषयित्या । १२. ख. सोभनौ । १३ ख श्रीमहाराजकुमार । १४. ०भूषन विधानं । १५. ख. ०कपेन सामर्थ्यमिति । १६. क. अतिप्रायास । १७. ख. सिद्धः । १८. ख. ०नाम ।

[अथ नवमः सर्गः]

कमलनालगुणग्रथितैरथो सुरभिभिः कुसुमैर्मृदुभिर्युतम्[1] ।
मदनमानसनिर्मितसन्निभं सदनमायतमुत्तममाययौ[2] ।।१।।

कमलनालेति । अथो विभूषणविधानानन्तरं सुरभिभिः मृदुभिः कमलनालस्य गुणेन विससूत्रेण[3] ग्रथितैः कुसुमैर्युत, मदनेन मानसेन[4] निर्मितं यद् गृहं तेन सन्निभं सदृशं, उत्तमं श्रेष्ठमायतं सदनमाययौ । दोलाचलने कुसुमानि पतेयुरिति सदनरचयितुरभिप्रायः कमलनालगुणग्रथितैरिति विशेषणेन व्यज्यते । तेन च शिल्पेऽतिनिपुणतेति ।।१।।

दोलामनेकविधरत्नविचित्ररूपां,[5]
तत्राऽऽसनादिरचनारुचिरां विलोक्य ।
आरोप्य मैथिलसुतामिह चाऽऽदरेण,
गीतं विधाय रुचिरं प्रजगौ स रामः ।।२।।

दोलामिति । स रामः तत्र कुसुमसदने अनेकविधै रत्नैर्विचित्रं रूपं यस्यास्तां,[6] आसनादेरुपकरणस्य रचनया रुचिरां नवीनां दोलां विलोक्य, इह दोलायां च मैथिलसुतामारोप्य, रुचिरं गीत[7] विधाय, नवीनं रचयित्वा प्रजगौ । एतेन प्रथमतो नवं वस्तु निजेष्टदेवतायै[8] समर्प्योपभोक्तव्यमिति[9] व्यज्यते । तेन च तयोः [10]परस्पराभीष्टदातृत्वात्परस्परेष्टदेवतात्वमिति ।

सुप्रीते दोलन्ती सीते कुरु मे गीतं श्रवणानीतम् ।
सरवकिङ्किणी हरति मनो मे मदनादनया किमु समधीतम् ।।१।।

सुप्रीते इति । हे सुप्रीते, हे सीते ! दोलन्ती सती त्वं मम[11] गीतं श्रवणानीतं निजश्रवप्राप्तं[12] कुरु । अत्र श्रवणानीतं कुर्वित्यनेन गीतश्रवणे दोलनसुखादप्यधिकं सुखं प्राप्स्यसीति । तेन च तस्य गानगर्व इति[13] ।

---

१. ख. ०र्यतम् । २. क. ०मुक्तमाययौ । ३. क. ख. विशसूत्रेण । ४. ख. सनसेन ।
५. ख. ०नेकविधि० । ६. ख. यस्याणां । ७. ख. गीते । ८. क. ०देवता ।
९. क ०पयोक्तमिति । १०. क. परस्परभीष्ट० । ११. ख. म । १२. ख. निजश्रवणप्राप्तं ।
१३. ख इति व्यज्यते ।

गीतमेवाऽऽह—सरवेति । रवेण शब्देन सहिताऽसौ[1] किङ्किणी मे मनो हरति, अतोऽनया, किमु इति वितर्के, मदनात्समधीतं सम्यक्पठितम् । ईदृको[2] नु मन्त्रः पठितः, यतो मदनस्याऽपि मदनस्य मे मनो हरतीति भावः । अथवा काक्वा मदनात्किं समधीतं, न समधीतमित्यर्थः । एतेन मदनमन्त्रा[3] मम ज्ञाता एव । एषा ममाऽपि मनोहारकमपूर्वबीजमुच्चरतीति व्यज्यते । तेन च किङ्किणी-शब्दस्याऽतिचित्रत्वमिति ॥१॥

यदा दोलने तिर्यग्दोला भवति तदा स्मितरुचिमातनुषे[4] ।
मन्ये विरहपिशाचो गत इति पयसा स्नपयसि मा शुचिमाजनुषे ॥२॥

यदेति । दोलने यदा दोला तिर्यग्भवति तदा स्मितरुचिमातनुषे समन्ताद् विस्तारयसि, तन्मन्ये पिशाचसम्बन्धाच्छरीरमशुचि भवत्यतो मम विरहरूपः पिशाचो गत इति हेतोः शुचिजनुषे[5] पवित्रतोत्पत्त्यै[6] मा[7] मां पयसा[8] क्षीरेण[9] स्नपयसीति । यद्वा विरहपिशाचेन सम्भोगशृङ्गारो मन्दो बभूव इदानीं स गत इति सम्भोगशृङ्गारवृद्धयै[10] क्षीरेण स्नपयसि[11], स्मितेन सम्भोगशृङ्गार-मुद्दीपयसीत्यर्थः[12] । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—आन्दोलने मम प्रवीणतां ज्ञात्वा[13] 'अप्रवीणतां वा ज्ञात्वा'[14] स्मयसे इति मे मनो विचिकित्ससीति[15] व्यज्यते । तेन च किञ्चिद् वदेति ॥२॥

दोलाचलनादतिचलमञ्चलमिह मम करणाचञ्चलकरणम् ।
कलयसि यन्न हि न हीति मन्त्रैरिति किं वशीकरणविस्तरणम् ॥३॥

दोलेति । इह दोलाचलानाद्धेतोः,[16] अतिचलं अतिशयेन चलमञ्चलं[17], मम करणानामिन्द्रियाणामचञ्चलकरणं[18] स्थिरकरणं भवतीति[19] शेषः । एतेन त्वया वारं वारं ध्रियमाणमप्यञ्चलं चारं चारं ममेन्द्रियाणि[20] स्तम्भयत्सदान्दोलनं रहयतीति व्यज्यते । तेन च भवदीयमनोरथसिद्धिरेवेति । पत्युर्नहि[21] नहीति[22] मन्त्रैर्मम वशीकरणस्य[23] विस्तरणं कलयसि इति किं किमर्थमित्यर्थः ॥३॥

---

१. ख. ०चाऽसौ । २. ख. रुद्रको । ३. क. मदनमदनमंत्रा । ४. ख. स्मितरुमातनुषे ।
५ ख. ०जनषे । ६ क पावित्रतो० । ७. ख ममा । ८. क मपसा । ९. ख चीरेन ।
१० ख. शृंगारं वृद्धै । ११. ख. न स्नपयसि । १२. ख. संभोवाशृंगासुतद्वीपयसीत्यर्थः ।
१३. ख. वो ज्ञात्वा । १४. '—' चिह्नस्थोंऽशो नास्ति ख. पुस्तके ।
१५ ख विचिकित्सभीति । १६. क. दोलादलनाद्धेतोः । ख. दोलाचलद्धेतोः ।
१७ क. चलपंचलं । १८. क. ०मचवल । १९. क भवती । २० क. मनंद्रिय णि ।
२१. क. पत्युनर्नहि । ख. पत्युनर्वहि । २२: क. नहीति । २३. वशीकरस्य ।

सञ्चलनादन्तरकण्डूयनमीलन्नयननलिनमिति[1] चित्रम् ।
विश्वनाथनाथस्य हृदम्बुजमुन्मीलयति सजाति सुमित्रम् ।।४।।

सञ्चलनेति । दोलायाः सञ्चलनाद्धेतोः, अन्तरकण्डूयनेन[2] मीलत् तव नयनमेव नलिनं, विश्वनाथनाथस्य मम, कमलत्वेन सजाति समानजातीयं, हृदम्वुजमुन्मीलयति विकाशयतीति चित्रमाश्चर्यम् । अत्राऽन्तरकण्डूयनेत्याद्युक्त्या श्रीरघुनन्दनेन यो भावो जानक्या उद्घाटितः स तदेककथनीय इति व्यज्यते । तेन च त्वमान्दोलयसि[3], विशेषानन्दस्तु मां प्राप्नोतीति, असङ्गत्यलङ्कारो व्यज्यते ।।४।।

प्रियेण प्राक् प्रेम्णा[4] समुपगमितान्दोलनविधौ[5],
सुखं तस्मै स्वस्य प्रवितरितुकामा जनकजा ।
समादातुं तस्य स्वयमपि तमभ्यर्च्य विधिवत्,
तथैवोद्गायन्ती[6] तमतिरसमान्दोलितवती ।।१।।

प्रियेणेति । प्राक् प्रियेण प्रेम्णा, आन्दोलनविधौ सुखं समुपगमिता सम्यक्प्रापिता[7], जनकजा स्वस्यात्मनः[8] सुखं तस्मै प्रियाय प्रवितरितुकामा सती, तस्य प्रियस्य सुखं स्वयमपि समादातुं विधिवदभ्यर्च्य यथा प्रियोऽगायत् तथैवोच्चैर्गायन्ती सती, अतिरसं यथा तथा तं प्रियमान्दोलितवती । यद्गानं श्रुत्वा पूजितः श्रीरघुनन्दनोऽपि प्रतिमेवाऽऽन्दोलित[9] आसीदिति अतिरसमिति पदेन व्यज्यते । तेन च रघुनन्दनान्दोलनाज्जानक्यान्दोलनमतिचार्विति ।।१।।

दोलासन्दोलने कपोले विलसति नीला चलदलकाली ।
कमलालयप्रान्त इव लग्ना लहरीविलुलितशैवलपाली ।।१।।

दोलेति । दोलायाः सम्यग्दोलने, नीला, चलन्ती चाऽसावलकावली, कपोले कमलालयस्य कमलस्य प्रान्ते लग्ना लहरीविलुलिता चाऽसौ शैवलानां[10] पाली पङ्क्तिरिव विलसति शोभते । अत्र कमलालयेति पदेन कपोलस्य साधारणनीलकमलेभ्योऽधिककान्तिमत्त्व[11] व्यज्यते । अत्रोपमालङ्कारेण[12]

---

१. क. ०कडूयन० । २. ख कंडयनेन । ३. त्यमांदोलयसि । ४. ख. प्रेम्ण । ५. ख. समुगमितांदोलनविधौ । ६. ख. ०वोद्वचायंति । ७. ख. सम्यक्वापिता । ८. ख स्वस्यात्मानः । ९. ख. प्रमेवांदोलित । १०. ख. शैवाला । ११ क. ०काकिमत्त्वं । १२. ख. ०लकारेव ।

शब्दशक्त्युद्भवो वस्तुध्वनिः । लहरीविलुलितशैवालसादृश्येनाऽलकेषु कुसुमस्नेहार्द्रता व्यञ्जिता । तेन च श्रीरघुनाथः परमशृङ्गारी लोके 'छयलचिकमोजा'[1] इति प्रसिद्ध इति ।।१।।

अधररागयुक्ता नसि मुक्ताकनकगुणयुता[2] राजति दोला ।
चित्रा यदारूढवनितादृग्वनितानततिर्दोलयति[3] लोला ।।२।।

[नसि नासिकायां, लोला चञ्चला, अधरस्य रागेण वर्णेन युक्ता, मुक्ताकनकगुणेन युक्ता, चित्रा][4] दोलेव[5] राजति[6] । यस्यामारूढा वनितानां दृशो दृष्टय एव वनितास्तासां ततिः पङ्क्तिः दोलयति । अन्यस्यां दोलायामेका सखी दोलयति, द्वे वा सख्यौ दोलयतः । एतस्यां नासामौक्तिकदोलायां सखीसमूहो दोलयतीत्यस्या वैचित्र्यमित्यर्थः । चित्रेति निसर्ग-(शुक्लं मौक्तिकं श्रीरघुनन्दननासास्थित्या हरितं, तत्पुनरधररागेण शोणितं, तत् पुनः सखीदृष्टिभिः श्याममित्यनेक)[7]-वर्णमयी[8]नासामौक्तिकदोलेति भावः । तथैवाऽनेकवर्णमणिजटितदोलाऽप्यस्तीति । अत्र रूपकतद्गुणालङ्काराभ्यां[9] प्रशंसनरूपवक्रोक्त्या[10] विपरीतारोपेण[11] परिहासो व्यज्यते । तेन च लज्जाराहित्यम् । तेन चाऽऽनन्दमदमत्ततेति ।।२।।

मृगमदमण्डितगण्डमण्डले चलति ललितकुण्डलमतिगोलम्[12] ।
यथाऽनङ्गमरकतमणिरङ्गे[13] नृत्यति मञ्जु नर्त्तको लोलम् ।।३।।

मृगमदेति । मृगमदेन मण्डितं यद् गण्डमण्डलं[14], एतेन शृङ्गाररचनास्थलात्परस्परगलनिहितबाहुभ्यां[15] दोलयितुं पादचारेण गच्छद्भ्यामुभाभ्यां क्वचित्परस्परकपोलमेलनं कृतमिति । तेन[16] मकरिकापत्रलग्नमिति । तेन च रसाधिक्यमिति व्यज्यते । तत्राऽतिगोलमतिवर्तुलं कुण्डलं चलति । यथाऽनङ्गमरकतमणिरङ्गे रङ्गभूमौ तत्राऽपि चतुष्करचना भवतीति नर्त्तकः लोलं चपलं

---

१. ख. छयलचिकनिया । २. ख. ०कणकगुण० । ३. ख. ०दृग्वनिता० ।
४. [—] कोष्ठान्तर्गतोंऽशः ख. पुस्तके नाऽस्ति । ५. ख. अदोलेव । ६. ख. राजिति ।
७. (—) कण्डिकान्तःस्थांशस्याऽभावः ख. पुस्तके । ८. ख. गुर्णमयी ।
९. ख. रूपतद्गुणा० । १०. ख. ०वक्रोक्ष्मा । ११. क. विपरीतारोपेण परितारोपेण ।
१२. क. ०कुण्डलि० । १३. क. यथानंगमणिरंगे । १४. ख. गंगमण्डलं ।
१५ ख. ०गलविहित० । १६. ख. तेन च ।

मञ्जु मनोहरं नृत्यति तथा नर्त्तकोऽपि चपलं नृत्यन्नलातचक्रवद्वर्तुलाकारो[1] भवतीति भावः[2] ॥३॥

निलयननिपतत्कुसुमसंहतिर्विलसति मुखरमिलिन्दमण्डली ।
विश्वनाथनाथ वशयितुमिव[3] किरतीमामशरीरयामली ॥४॥

निलयनेति[4] । मुखरा[5] मिलिन्दानां[6] मण्डली यस्यां सा, निलयने सदने निपतन्ती[7] चाऽसौ कुसुमानां संहतिर्विलसति । तत्रोत्प्रेक्षते—अशरीरः कामः स एव यामली यामलवेत्ता[8] ऐन्द्रजालिक इति यावत्, विश्वनाथस्य शिवस्य नाथं श्रीरघुनाथं, वशयितुमिव[9], इमां तादृशकुसुमसंहतिं किरति । मुखरेत्यादिविशेषणेन[10] मदनः 'स्ववैरिणो नाथं जेतुं'[11] मन्त्रं पठित्वा दिव्यास्त्र-प्रयोगं करोतीति व्यज्यते । तेन शोभाभ्यां मिलित्वा दोलयितव्यमिति । तेन च जानक्याः श्रम इति । तेन च सौकुमार्य्यातिशय इति ॥४॥

परस्परप्रेमरसानुसारिणौ परस्परान्दोलनहर्षविह्वलौ ।
परस्परालोकनकौतुकान्वितावुभौ समालोक्य जगाद काचन ॥१॥

परस्परेति स्पष्टम् । परस्परान्दोलनेति । अयं भावः—एकतः रघुनन्दन-सम्मुखे स्थित्वा जानकी पदाभ्यां चालयति तदा रघुनन्दनदिशि दोला चलति । यदा रघुनन्दनश्चालयति तदा जानकीदिशि चलतीति । परस्परालोकनकौतुका-न्वितावित्यनेन जानकीछविच्छटाभी[12] रघुनन्दनो गौरवर्णः, तस्य च ताभि-र्जानकी श्यामवर्णा दृश्यते इति व्यज्यते । तेन च तयोराश्चर्यमग्नत्वम्[13] । अत्र वस्तुना तद्गुणालङ्कारो ध्वनिः । तेन च वस्तुध्वनिः[14] ।

लसति श्रीरघुनन्दनदोला सुतरां लोला ।
शृङ्गाररुचिमरकतमणिप्राकारसुषमामण्डिता ।
आदर्शसममणिमेदिनीप्रतिबिम्बवृन्दालम्बिता ॥२॥

---

१. क. ०चक्रवद्वलाकारो । २. क व्यवः । ३ क. ख. वसयितुमिव । ४. क नीलमयेति । ५. क. मुखर । ६. क. मिलिंदामां । ७, क. नीपतन्ती । ८ क. यामलेवेत्ता । ९. क. वसुयितुमिव । १०. ०त्यादिशेषणेन । ११. '—' ख. निजविजयनं रघुनंदनं हंतुं । १२. ख. ०च्छटाभो । १३. ख. ०श्चर्यमानत्वम् । १४. ख. वस्तुध्वनिरिति ।

लसतीति[१] । वक्ष्यमाणविशेषणविशिष्टा लोला चञ्चला श्रीरघुनन्दनयोर्दोला, सुतरां लसति शोभते । दोलाजटितानेकवर्णमणिषु पतितायां जानकी प्रभायां तथैव रघुनन्दनप्रभायां च काचिदन्यवर्णेव दोलायाः प्रभाववतीति सुतरामिति पदेन व्यज्यते । तेन च शोभातिशयत्वमिति । शृङ्गारेति—शृङ्गारस्येव रुचिर्येषां तेषां मरकतमणीनां प्राकारस्य सुषमया[२] परमशोभया मण्डिता, मरकतमणिप्राकारप्रभायतनेन कुसुममन्दिरहरितकुञ्ज इव लक्ष्यते । तदन्तरे दोलाऽतिशोभिताऽस्तीति[३] भावः । आदर्शेति—आदर्शेन समा तुल्या सा चाऽसौ मणिमेदिनी च सा तस्यां प्रतिबिम्बवृन्दैरालम्बिता युता । दोलायाः प्रतिबिम्बानि मणिमयमेदिन्यां पतन्ति तानि च प्रतिबिम्बानि दोलाजटितमणिषु पतन्तीति भावः । दोलयाऽनेकरूपेण रघुनन्दनो रासमिव करोतीति प्रतिबिम्बवृन्दालम्बितेत्यनेन व्यज्यते । तेन च कौतुकातिशय इति । अत्र वस्तुनोत्प्रेक्षालङ्कारध्वनिः[४] । तेन च वस्तुध्वनिः ।।२।।

वरतारतोरणवलितवरणद्वारवारविरोचिता ।
मणिजटितहाटकमयकपाटोदारदीप्तिसमञ्चिता ।।३।।

वरतारतोरणेति । वरेण ताराणां शुद्धमौक्तिकानां तोरणेन वन्दनमालया[५] वलितानां[६] शोभितानां वरणस्य प्राकारस्य द्वाराणां वारेण समूहेन विरोचिता विशेषेण शोभिता । मणिजटितेति—मणिभिर्जटितानां[७] हाटकमयकपाटानां उदारदीप्त्या समञ्चिता[८] व्याप्ता । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—पतितया ईदृशद्वारप्रभया दोलाऽपि सकपाटद्वारवतीव दृश्यते इति । तेन चेयं रहस्यकर्मयोग्येति सखीपरिहासोक्तिरिति । अत्र वस्तुना उत्प्रेक्षालङ्कारध्वनिः । तेन च वस्तुध्वनिः ।।३।।

मणिमाल्यमुक्ताजालवरप्रवालराजिविराजिता ।
अतिविमलधवलसमृद्धशोभध्वजनिबन्धभ्राजिता ।।४।।

मणिमाल्येति । मणीनां माल्यैर्मुक्तानां जालैश्च वरप्रवालानां[९] राजिभिश्च विशेषेण[१०] राजिता । मणिमाल्यादयस्तथा प्रवीणतया सज्जिता

१. क. सतीति । २. क. सुखमया । ३. ख. ०शोभीतास्तीति । ४. ख. ०लंकारसंध्वनिस् ।
५. क. वदनमालया । ६. ख. वनितानां । ७. क. मणिजटि० । ८. ख. समांचित्ता ।
९. क. वरवालानां । १०. ख. विशेषन ।

यथा सचित्ररचनेव दृश्यत[1] इति विराजितेत्यनेन व्यज्यते । अतिविमलेति—अतिविमलानां धवलानां च समृद्धा शोभा येषां तेषां ध्वजानां निबन्धेन भ्राजिता । अत्र ध्वजनिबन्धेति पदेन[2] निजशोभयाऽन्यशोभां जितवतीति । तेन चाऽद्वितीयत्वमिति[3] व्यज्यते ।।४।।

दम्पतिच्छविसम्पतिवलितविभोत्पत्तिसुखेक्षणा[4] ।
उत्तुङ्गतरलतरङ्गयुतगङ्गादिजलधिविलक्षणा ।।५।।

दम्पतीति । दम्पत्योर्जानकीरघुनन्दनयोर्या छवेः सम्पतिः तया वलिताया[5] युताया विभाया उत्पत्या सुखं सुखजनकमीक्षणं यस्याः सा, उत्तुङ्गैस्तरलैस्तरङ्गैर्युता[6] गङ्गादयो नानावर्णा नद्यो यस्मिन् तस्माज्जलधेर्विलक्षणा[7] । सुखेक्षणेत्यनेन अभिप्रकाशेन[8] प्रकाशिनो दर्शनं सुखेन न भवति, कोटिसूर्यप्रकाशौ जानकीरघुनन्दनौ यत्राऽऽन्दोलयतस्तस्यां परमप्रकाशयुतायां दोलायां श्रीजानकीरघुनन्दनयोर्दर्शनविक्षेपाभाव इत्याश्चर्यं व्यज्यते । जलधिविलक्षणेत्यनेन ध्यातॄणां तापहारकत्वं व्यज्यते । तेन च रसरूपतेति[9] । अत्र प्रतीपालङ्कारध्वनितवस्तुना वस्तुध्वनिः ।।५।।

बहुरङ्गमणिमयहंसकीरकपोतपोतकशोभिता ।
सङ्कुलितकल्पलतादिरचना विबुधवनवद्द्योतिता[10] ।।६।।

बहुरङ्गेति । बहुरङ्गमणिमयैः हंसानां कीराणां कपोतानां च पोतकैः शावकैः शोभिता । सङ्कुलितेति—सङ्कुलिता कल्पलतादीनां रचना यस्यां सा[11], विबुधा देवास्तेषां वनं नन्दनं तद्वद् द्योतिता । अत्र बहुरङ्गेत्यादिना तत्र कृत्रिमानामपि वाञ्छापूरकत्वं व्यज्यते । तेन च दोलाया नन्दनवनादप्यधिकत्वमिति । अत्र व्यञ्जितवस्तुना प्रतीपालङ्कारध्वनिः ।।५।।

कलधौतकीलककलितमणिकुलदीपदीधितिभासिनी[12] ।
सुरचापमध्यनिबद्धजलधरचञ्चलारुचिसादिनी[13] ।।७।।

---

१. ख. दस्यत । २. ख. पट्टेन । ३. ख. चाद्वितीययात्वमिति । ४. क. संपत्ति ।
५. क. नाऽस्ति । ६. ख उतगं० । ७. ख ०जलधे० । ८. ख. अतिप्रकाशेन ।
९. ख. आनंदरूपतेति । १०. ख. ०वनवद्द्योता । ११. ख. स ।
१२. ख. ०कुलदीधितप्रतिभासिनी । १३. ख. ०रुचसादिनी ।

कलधौतेति । कलधौतकीलकयोः सुवर्णस्तम्भयोः कलितस्य लग्नस्य मणीनां कुलस्य दीधित्या प्रकाशेन प्रतिभासिनी प्रतिभासनशीला, सुरचापस्येन्द्र-धनुषो मध्ये निबद्धयोर्जलधरचञ्चलयोः रुचिं सादयति[1] तिरस्करोति तथा सुरचापोपमया अनेकवर्णा मणय आयाताः । अत्र [2]सुरचापोऽनेकवर्णमणिजटितो 'हिन्दोलः', चञ्चला जानकी, विद्युत्साहचर्यात् सजलमेघो रघुनन्दन इति ज्ञेयम् । एतेनाऽऽनन्दरमवर्णनं[3] व्यज्यते । तेन च तद्दर्शनानन्दितानां नृत्यन्तीनां गायन्तीनां च सखीनां मयूरोपमेति । अत्र प्रतीपालङ्कारव्यञ्जितवस्तुना उपमालङ्कार-ध्वनिः ।।७।।

वैकुण्ठवेश्मविनोदकुण्ठनकिङ्किणीगणगर्जिता ।
कृतपरस्परविलासहासविकाससुधासुमार्जिता ।।८।।

वैकुण्ठेति । वैकुण्ठवेश्मसु विनोदस्य कुण्ठनं किङ्किणीगणस्य गर्जितं यस्याः सा, अथवा वैकुण्ठवेश्मविनोदकुण्ठनस्य किङ्किणीगणे[4] गर्जित यस्याः सा[5], वैकुण्ठवेश्मविनोदकुण्ठनाऽहमिति गर्जतीति यावत् । अत्यपूर्वरागसरिगमसहित-किङ्किणीगणरणितं वैकुण्ठेऽपि पतित्वा निजानन्दजनकतया[7] तत्रत्यं विनोदं[8] मन्दीकरोतीति भावः । एतेन सुखजनकशब्दस्याऽतिशयत्वं व्यज्यते । तेन चाऽलौकिकत्वमिति[9] । कृतेति—कृतो यः परस्परयोर्विलासे हासस्तस्य विकास एव सुधा तया सुतरां मार्जिता शोधिता, निर्मलीकृतेति यावत् । एतेनोभौ किमपि रहोभावं[10] सूचयत इति व्यज्यते । तेन चाऽऽन्दोलनलीलाया रहस्यस्मारक-त्वमिति ।।८।।

किं नोऽत्र नेत्रानन्दकन्दश्चित्रतनुभृद् दृश्यते ।
वरविश्वनाथसुनाथमपि सुखयत्यसाविति मृश्यते ।।९।।

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते संगीतरघुनंदने
दोलावर्णनं नाम नवमसर्गः[11] ।।९।।

किं न इति । नः अस्माकं सखीनां नेत्रयोरानन्दस्य कन्दः किमत्र स्थले चित्रतनुभृत् चित्रशरीरधारी दृश्यते ? एतेन दोलाया आनन्दजनकतातिशयो

---

१. ख. सादवति । २. ख. सुरचापयोऽ—जटिते । ३ ख. एतेनानंदस्तवर्षणं ।
४. ०गणेन । ५. ख. बलान । ६. क. सो । ७. क. निजनन्तया । ८ ख. गीताविनोद ।
९. ख. चालोककत्वमिति । १० ख. रणे भावं । ११. ख. नवमः सर्गः ।

व्यज्यते । वरेति—असौ दोला वरविश्वनाथसुनाथमपि सुखयतीति[1] विमृश्यते विचार्यते । अत्राऽपिना श्रीरघुनन्दनस्य पूर्णसुखरूपत्वं व्यज्यते । तेन च तदानन्ददायिन्या दोलाया आश्चर्यरूपतेति ॥९॥

इति[2] श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंहकृतायां व्यंग्यार्थ-
चन्द्रिकानाम्नि[3] टीकायां[4] नवमः[5] सर्गः ॥९॥

[अथ दशमः सर्गः]

दोलान्दोलनलीलया प्रियतमामित्थं समुल्लासय—
न्यासामपि मानसे मृगदृशामानन्दमापूरयन् ।
क्रीडित्वा[6] सुचिरं विहारमपरं कर्त्तुं समुत्कण्ठयन्,
रामश्चारुतरं चकार वचसामुच्चारणं राघवम् ॥१॥

दोलान्दोलनेति स्पष्टम् । अत्र चारुतरमित्यनेन यस्मिन्वने विहारः सखीनां वाञ्छितस्तदेव वनं कथितवानिति व्यङ्ग्यम् । तेन[7] च याचनं विनैव 'श्रीरघुनन्दनस्य स्वभक्तानामभिलाषपूरकत्वम्'[8] । अत्र वस्तुव्यञ्जितप्रहर्षणालङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥१॥

चल दयिते ! वरसरयूतटमनुभाति[9] ।
पिकरमणी[10] शिखिरमणी यत्र च याति ॥१॥

---

१. ख. सुखयास्मिति । २. ख. इति सिद्ध । ३. क. ०चंद्रिकायाम्नि । ४. क. टीकाया । ५. क. नवमः । ६. ख. क्रीडीत्वा । ७. ख. तिन । ८. '—' चिह्नान्तर्गांशस्थाने ख. पुस्तकेऽयमंशः—'स्वक्तानां श्रीरघुनन्दनस्याभिलाषपूरकत्वम् । ९ ख. वरसरजू० । १०. क. पिकरक ।

रघुनन्दनवचनमेवाऽऽह—चलेति । हे दयिते जानकि ! वरं श्रेष्ठं सरयूतटमनुभाति शोभते, तत्र चल । पिकी वसन्तं ज्ञात्वा, मयूरी तु प्रावृषं ज्ञात्वा यत्र याति । एतेनोपलक्षणेन यत्र षडपि ऋतवो[1] वसन्तीति व्यज्यते । तेन च एकस्मिन्नेव काले षड्ऋतुविहारयोग्यतेति । अत्र देशवैशिष्ट्यजन्यवस्तु-व्यङ्ग्येन वस्तुध्वनिः ॥१॥

नितान्तमीक्षणेक्षणे क्षणे क्षणे विलक्षणा ।
अतुच्छगुच्छकक्षवृक्षलक्षलक्ष्यलक्षणा ॥२॥

नितान्तमिति । ईक्षणयोर्नेत्रयो[2] ईक्षणे दर्शने, क्षणे क्षणेऽनुक्षणं नितान्तं विलक्षणा[3] । अत्राऽनुक्षणवैलक्षण्येन तत्रत्यो[4] विहारोऽपि[5] च विलक्षण इति । तत्रत्याऽऽनन्दस्याऽपि विलक्षणता व्यज्यते । तेन च अतुच्छा[6] महान्तो गुच्छाः कुसुमस्तबका[7] येषां ते ते च कक्षवृक्षाश्च[8] तेषां लक्षमेव लक्ष्यं दर्शन-योग्यं लक्षणं चिन्ह यस्याः सा । यत्र सर्वे वृक्षा न्यूनाधिक्यरहिताः शोभासहिता दर्शनीयाः सन्तीत्यर्थः । एतेन तस्याः सौन्दर्यातिशयो व्यज्यते ॥२॥

प्रियालतालमालतीतमालपालिपालिनी[9] ।
सदालबालवल्लताविशालशालशालिनी[10] ॥३॥

प्रियालेति । प्रियालादीनां पालिः पङ्क्तिरेव पालिनी 'वारी' ति लोके प्रसिद्धा यस्याः सा, एतेन यस्याः पालिनी कण्टकितवृक्षरहिता, तन्मध्ये कण्टकितवृक्षाः[11] कथं भवेयुरिति व्यङ्ग्यम् । तेन च पादचारे शङ्का न कार्येति । सन्तः समीचीनाः आलवालाः विद्यन्ते येषां ते सदालवालवन्तः ते लताश्च, विशाला विस्तीर्णा वृक्षाश्च ते तैः शालिनी शोभिता । सदालवालेति-विशेषणेनाऽतिसरसहरितता व्यञ्जिता । तेन च तद्दर्शनस्य नेत्रतापहारक-त्वमिति[12] । ईदृशलतावृक्षेति पुरुषकथनेन तस्या अभ्युद्दीपनता[13] व्यञ्जिता ॥३॥

परागपुञ्जपूरिता पलाशपुष्पपिङ्गला ।
सनीरधीरगन्धवत्समीरसेवितोज्ज्वला ॥४॥

---

१. क. त्रातवी । २. ख. ईक्षणईक्षणयोर्नेत्रयोः । ३. ख. नितान्तं विलक्षणा ।
४. ख. तत्र यो । ५. ख. विहारेऽपि । ६. ख. अतुच्छ । ७. ख. स्तकका । ८. ख. कक्षे० ।
९. ख. ०पालपालिनी । १०. ख. ०शास्ससालिनी । ११. ख. कण्टकिता वृक्षाः ।
१२. ख. नेत्रानंदजनकत्वमिति । १३. ख. अत्युद्दीपनता ।

परागेति । परागपङ्केन पूरिता, पलाशपुष्पैः पिङ्गला इति विशेषणद्वयेन तस्या अतिकोमलता व्यज्यते । तेन च रासयोग्यतेति[1] । सनीरेति—सनीरेण धीरेण च गन्धवता च समीरेण सेविता उज्ज्वला निर्मला त्रिविधगुणसमीर-सेवितेति यावत् । एतेन तस्या विहारजन्यश्रमहारकत्वं व्यज्यते ।।४।।

मरन्दबिन्दुचित्रिता मिलिन्दवृन्दनादिता ।
वरस्थली[2] विभाति यत्र विश्वनाथवन्दिता ।।५।।

मरन्देति । मरन्दस्य कुसुमरसस्य बिन्दुभिश्चित्रिता पततां मकरन्दबिन्दूनां महत्त्वाल्पत्वपरिमाणवैचित्र्येण तस्याश्चित्रितत्वमिति बोध्यम् । एतेन यत्र रासोत्सवसूचकनानावर्णचतुष्कानीव रचितानि सन्तीति व्यज्यते । अत्र वस्तुना उत्प्रेक्षालङ्कारध्वनिः । मिलिन्दवृन्देत्यादिविशेषणेन यत्राऽऽलयो रासोत्सव-मङ्गलगानमिव कुर्वन्तीति व्यज्यते । तेन च पूर्वरासस्थलीभ्यस्तस्या अति-रमणीयतेति । विश्वेषां सर्वेषां नाथा ये ब्रह्मविष्णुमहेश्वरास्तैर्वन्दिता । एतेन तस्याः सर्वोत्कृष्टता व्यञ्जिता । ईदृशी वनस्थली यत्र सरयूतटे विभाति । अत्र वाच्यवैशिष्ट्यजन्यव्यङ्ग्यम् ।।५।।

गलमञ्जुलवञ्जुलमाल्यचयौ,[3]
मधुपावलिलालितकञ्जशयौ ।
अतिपीतपरागलसद्वसनौ,
विलसद्वदनौ दरसद्धसनौ ।।१।।

गलेति । गले मञ्जुलानां वञ्जुलमाल्यानां चयः समूहो ययोस्तौ यैव सुप्रीतिमाला विरच्याऽप्यायाति[4] तस्या एव मालां धत्त[5] इति माल्यचये व्यङ्ग्यम्[6] । तेन च सर्वासु समानप्रीतिमत्वम् । मधुपावल्या लालितं कञ्जं कमलं शये हस्ते ययोस्तौ । अत्र भ्रमराणां लालनासम्भवाद्बाधे[7] गुञ्जारो लक्ष्यते । तेन च तेषां मधुपानाभिलाषित्वं[8] व्यज्यते । अतिपीतेन परागेण लसती[9] वसने ययोस्तौ । एतेन विकचे कुञ्जे गमनं व्यज्यते । तेन च वनिका मार्गशोभातिशयः[10] । दरं मन्दं सत्सुन्दरं हसनं ययोस्तौ, अत एव विलसत्

---

१. ख. राक्षयोग्यतेति । २. ख. वनस्थली । ३. ख. ०मंजुलबंजुल० । ४. ख. विश्वयियति ।
५. ख. द्यत । ६. क. व्यं । ७. क. लालनां संभवाद्बाधें । ८. ख. मधुपः नाभिलात्वं ।
९. ख. लसंती । १०. क. मार्गशोभीतिशयः ।

शोभमानं[1] वदनं ययोस्तौ । दरसद्धसनावित्यनेन परस्परं किमप्यपूर्वं रहस्यं सूचयत इति व्यज्यते ॥१॥

व्यजनादिकवीजितकान्ततनू[2] वचनामृतनिन्दितकाममनू ।
ललनावलिमण्डितमोदभरौ ययतुश्च परस्परपाणिधरौ ॥२॥

व्यजनादिकेन आदिना चामरग्रहः[3], वीजिते कान्ते मनोहरे तनू ययोस्तौ । अतिसुकुमारसुन्दरशरीरतया गमने श्रमं ज्ञात्वा सख्यः परितो व्यजनचामराणि चालयन्तीति भावः । वचनामतेन निन्दिताः कामस्य मनवो मन्त्रा याभ्यां तौ । यौ[4] काममन्त्रैर्न वशीभूतौ तौ परस्परवचनेन वशीभूताविदं व्यङ्ग्यम् । तेन च वचनेऽपूर्वतेति । ललनागणेन मण्डितौ मोदस्य भरः समूहो ययोस्तौ तौ च तौ । मोदभरधारकत्वेन तयोर्मन्थरगामित्वं[5] व्यङ्ग्यम् । ईदृशौ श्रीजानकीरघुनन्दनौ परस्परपाणिधरौ ययतुः[6] । एतेन चलनेऽप्यतिप्रीत्याऽन्तरासहिष्णुत्व व्यङ्ग्यम् ॥२॥

युग्मम् विश्वनाथनुतचरणौ गत्वा तत्र ।
शुशुभाते तौ रसिकौ[7] रङ्गो यत्र ॥१॥

विश्वनाथेति । विश्वनाथेन शिवेन कविना वा नुतौ चरणौ ययोस्तौ । अत्र रसिकपदेन नानाशृङ्गारकेलिकलानिपुणत्वं व्यज्यते । तेन चाऽपूर्वरासकरणोत्साह इति ।

[8]समुद्यताभिर्द्युतिभिर्नवाभिर्विरोचमानं रमणं विलोक्य ।
स एव वाऽन्योऽयमिति[9] भ्रमन्ती कयाऽपि काचिज्जगदे वयस्या ॥१॥

समुद्यताभिरिति[10] । भ्रमन्ती भ्रमं कुर्वन्ती अनुक्षणं नवतां दधतो रघुनन्दनस्य[11] रूपं दृष्टवत्यपीदानीं रूपदर्शनानन्दमदमत्ता जातेति भ्रान्तिमदलङ्कारेण वस्तुव्यङ्ग्यम् । तेन च रघुनाथरूपं तत्कालेऽत्यपूर्वमिति ॥१॥

---

१. ख. शोभामानं । २. ख. व्यंजनादिक० । ३. क. चामरत्रहः । ४. क. तौ ।
५. ख. तयोर्मन्दगामित्वं । ६. क. ययुतुः । ७. ख. रसिररसिकौ । ८. क. समुद्युताभि० ।
९. ख. स ऐवांन्योऽयमिति । १०. ख. समुद्यतान्निरतिः । ११. ख. रघुनन्दस्य ।

पश्य[1] सखि[2] ! जानकीकान्तम् ।
सकलशुचिसारसुनिशान्तम्[3] ॥१॥

पश्येति[4] । सकलस्य शुचेः शृङ्गारस्य यः सारः दिव्यशृङ्गारः तस्य सुनिशान्तं शोभनभवन, एतेन शृङ्गारः कदाचिदपि तं[5] न[6] मुञ्चतीति व्यज्यते । तेन च अन्यत्र शृङ्गाराभास एवेति । जानकीकान्तमिति पदेन तस्याः[7] भ्रम निवारितवतीति व्यज्यते । तेन च तस्या रघुनाथरूपाभिज्ञतेति ॥१॥

ललितकरकलितकमलवरम् ।
विलज्जितकुसुमबाणधरम् ॥२॥

ललितेति । ललिते करे कलितं शोभितं कमलवरं यस्य तं, अत[8] एव विलज्जितो विशेषेण लज्जां प्रापितः[9] कुसुमबाणधरः[10] कन्दर्पो येन तं । एतेन मदनः पञ्चबाणव्यापारेण[11] जगद् वशयति, रघुनन्दनस्त्वबाणीकृतेनैकेन[12] कमलेनैव तत्राऽपि दर्शनादेव वशयतीति व्यज्यते । तेन च न केवल कान्त्या मदनजेता[13] श्रीरघुनन्दनः किन्तु सामर्थ्येनाऽपीति । अत्र प्रतीपालङ्कारेण वस्तुध्वनिरिति ॥२॥

लसन्नटराजवरवेषम् ।
प्रियामुखपश्यमनिमेषम्[14] ॥३॥

लसन्नटराजेति । लसञ्छोभमानः नटराजाद्वरो[15] वेषो यस्य तम् । नटराजस्य कला अवलोक्य निपुणता ज्ञायतेऽस्य तु रूपमेव दृष्ट्वा नृत्यगीतादिषु प्रावीण्यं,[16] ज्ञायत इति वरपदव्यङ्ग्यम् । तेन च तादृशवेषादेव[17] सर्वजन-मोहकत्वमिति । प्रियेति प्रियामुखस्य पश्यं पश्यन्तमित्यर्थः । अनिमेषं[18] निमेषरहितमित्यर्थः । श्रीजानकीछविरनुक्षण नवीना भवत्यतो निमेषयोश्चलि-तुमवकाश[19] एव न भवतीति अनिमेषपदव्यङ्ग्यम् ॥३॥

---

१. क. ख. पस्य । २. ख. सखी । ३. ख० सुनिसान्तं । ४. ख. पस्येति । ५. ख. नाऽस्ति । ६. क. म. । ७. क. स्या । ८. ख. अति । ९. ख. प्रापिता । १०. ख.० बाणधराः । ११. क.० मापारेण । १२. क.० स्त्वंबाणीकृते० । १३. क. मदनं जेता । १४. ख. पस्य-मनिमेषम् । १५ क. नटराजसेवलरो । १६. ख. प्रावीणं । १७. ख. त्वादृश० । १८. ख. अनिमिष । १९. ख.० अनितुमव ।

षण्णत्यङ्गुलोन्मानम्, ।
केवलानन्दमयभानम् ॥४॥

षण्णवतिरङ्गुलानि उन्मानं यस्य तं, केवलानन्दमय इति भानं[1] यस्य तं केवलानन्दशरीरकमित्यर्थः । एतेन रूपस्याऽनिर्वचनीयता व्यञ्जिता । तेन च ऽप्रतिद्वन्द्वत्वमिति[2] ॥४॥

विविधमणिमयमुकुटलसितम्[3] ।
तारमञ्जरीयुगकलितम् ॥५॥

विविधेति । विविधानेकरङ्गमणिमयेन[4] मुकुटेन लसितं शोभितं, शिखिपिच्छचन्द्रकमयेनेव[5] मुकुटेन युतमिति भावः । तारेति—तारमञ्जर्या लोके 'किलगी' ति[6] प्रसिद्धाया युगेन कलितं युक्तं, यस्य मुकुटे उभयतो मौक्तिकमञ्जरीद्वयं लोलतीति भावः । एतेन छयिल्लता[7] व्यञ्जिता । तेन च रमणीप्रसादकत्वमिति ॥५॥

अरुणकञ्चुककलितकायम् ।
विजितबालातपच्छायम् ॥६॥

अरुणेति । अरुणेन कञ्चुकेन 'जामेति' लोके प्रसिद्धेन कलितः[8] कायो यस्य तं, अत एव विजिता बालातपस्य[9] छाया शोभा येन तम् । एतेन अकृत्रिमजयेन कृत्रिमजयस्सुतरां[10] सिद्ध इति व्यज्यते । तेन च बृहत्कञ्चुकस्याऽपूर्वारुण्यमिति ॥६॥

भूयिष्ठवसनसुखिताशम्[11] ।
अमितसुरचापजयदक्षम्[12] ॥७॥

भूयिष्ठेति । भूयिष्ठवसनेन आगुल्फविलम्बिकञ्चुकोपरिनिबद्धानेकवर्णानेकवसनरचितेन कटिबन्धनेन 'काछनी' ति लोके प्रसिद्धेन सुखिते अक्षिणी अवलोकयतामिति[13] शेषः येन तं, अत एवाऽमितस्य सुरचापस्य जये दक्षं[14] चतुरम् । सुरचापस्तु भूत्वा नश्यति, भूयिष्ठवसनं सदैकरसमानन्दवर्द्धकमिति जये हेतुः ।

---

१. क. भात्रं । २. ख. च प्रतिद्वंत्वमिति । ३. ख. ०लशितं । ४. क. ०नेकिरंग० ।
५. क. चन्द्रमयेनेव । ६. ख. कलंगीता । ७. क. ख. छपिल्लता । ८. ख. कलिता ।
९. क. वालातस्य । १०. क. कृत्रिजय० । ११. ख. ०सुखिताच्छम् । १२. ख. अमितसुचाप० ।
१३. ख. अवशोकय० । १४. ख. ददमं ।

एतेनाऽरुणकञ्चुकस्य सन्ध्याकालिकमेघस्याऽभ्युपमेति व्यज्यते । तेन च रघुनन्दन-शरीरवर्णस्याऽऽकाशोपमेति ।।७।।

पटयुगं प्रान्तमणिमुक्तम् ।
दधतमतिचारुतायुक्तम् ।।८।।

पटयुगमिति । प्रान्ते मणयो मुक्ताश्च यस्य तत्, अतिचारुतायुक्तं, पटयोर्युगं दधतम् । पटयुगधारणेऽयं हेतुः—एकं भूयिष्ठवसनोपरिबन्धनाय, द्वितीयं[1] भावसंसूचनाय स्कन्धे[2] धरतीति । प्रान्तमणिमुक्तमिति पदेन पटयुगस्य प्रकाशवत्त्वं व्यज्यते । तेन च तस्य विद्युत्सादृश्यमिति[3] ।।८।।

अधःकञ्चुककलितजङ्घम् ।
विजितशुचियूपरुचिसङ्घम्[4] ।।९।।

अध इति । अधःकञ्चुकेन लोके 'पायजामे' ति प्रसिद्धेन कलिते आवेष्टिते जङ्घे यस्य तम्, अत एव विजितः शुचियूपस्य शृङ्गारजयस्तम्भस्य रुचेः सङ्घः समूहो येन तम् । अत्र शुचियूपजयेन जङ्घयोः पादकञ्चुकपटपूजितत्वम् । तेन चाऽतिश्लाघनीयतेति व्यज्यते ।।९।।

मञ्जुलं यस्य मुखकमलम् ।
हसति विधुमुदितसकलकलम् ।।१०।।

मञ्जुलमिति । यस्य मञ्जुलं मुखकमलं, उदिताः सकलाः कलाः यस्य तं, विधुं चन्द्रं हसति । एतेनाऽन्यत्कमलं चन्द्रमवलोक्य निमीलितमुखकमलं तु पूर्णकलं[5] चन्द्रं दृष्ट्वा विनिन्द्य हसतीत्यतोऽपूर्वमेतत् कमलमिति व्यज्यते । तेन च सदा विकाशित्वमिति । अत्र प्रतीपालङ्कारेण प्रतीपालङ्कारध्वनिः ।।१०।।

जयति सतिलकमलिकममलम् ।
सवशकरयन्त्रविधुशकलम् ।।११।।

---

१ क द्वितीय । २. क. स्कंदे । ३. क. ०सादृशमिति । ४. क. ०शुचिपूर० ।
५. ख. पूर्णकमलं ।

जयतीति । सतिलकं अमलं यस्य अलिकं ललाटं, वशकरयन्त्रेण[1] सहितं विधुशकलं चन्द्रखण्डं[2] जयति, अतोऽभूतोपमेयम् । एतेन केवलस्याऽलिकस्य चन्द्रादप्यधिकानन्दजनकता व्यज्यते । तेन च तद्दर्शनादेव वनितानां मानापनयनमिति[3] ।।११।।

काकपक्षे स्वलकपाली ।
भाति जितफणिफणतलव्याली[4] ।।१२।।

काकपक्ष इति[5] । जिता[6] फणिफणस्य तले वर्त्तमाना व्याली सर्पिणी यया सा, स्वलकपाली शोभनाऽलकपङ्क्तिः[7] यस्य काकपक्षे जयति । फणिफणाधस्ताद्[8] वर्त्तमानत्वेन व्याल्याः सङ्कुचितं[9] व्यङ्ग्यम् । तेन च स्थिरत्वं कुटिलत्वं चेति व्याल्या[10] दशनेन विषमारोहति, एतस्या दर्शनेनैव विषमारोहतीति पदेन व्यज्यते ।।१२।।

भ्रमति भुग्ना[11] भृकुटिरेषा[12] ।
मनोभवचापजयिवेषा ।।१३।।

भ्रमतीति । मनोभवचापस्य[13] जयी वेषो यस्याः सा, भुग्ना कुटिला, यस्य एषा भृकुटिः भ्रमति । जयिवेषेति[14] पदेन धनुः कदाचिदवरोप्यते[15] कदाचिदवतार्य्यते । नित्यकिशोरस्य रघुनन्दनस्य भ्रूस्तु सदाऽवरोपितैव[16] भवतीति व्यज्यते । अनुक्षणं नवनवशोभावत्याः जानक्याः मुखदशने विनिमेषस्य रघुनन्दनस्येदमप्याश्चर्यमिदमप्याश्चर्यमिति[17] भुग्नभृकुटिभ्रमणेन व्यज्यते । तेन च जानक्याः सौन्दर्यातिशय इति ।।१३।।

राजति[18] श्रवणमतिरूपम् ।
हसितमरकतवलितकूपम् ।।१४।।

---

१. क. वशकरं यंत्रेण । २. क. चंद्र खंडं । ३. क. मानापवयनमिति ।
४. क. जितफणितलव्याली । ५. ख. काकपक्ष इति विजिता काकपक्ष इति ।
६. ख. विजिता । ७. क शोभनालपंक्तिः । ८. क. फणिधणा० । ९ क. संकुचितत ।
१०. ख. वाल्या । ११. क. मुग्ना । १२. क. भ्रु कुटि० । ख. भ्रकुटि० ।
१३. क. मनोभाव० । १४. क. जपिवषेति । १५. ख. कदाचिदरोप्यते ।
१६. ख सदारोपितैव । १७. क. पुस्तके 'इदमप्याश्चर्य'इ त्यस्य त्रिरावृत्तिः ।
१८. ख. राजते ।

राजतीति । हसितः मरकतेन वलितो बद्धः कूपो येन[1] तत्, यस्याऽतिरूपं श्रवण राजति । अत्र राजतीत्यनेनेदं व्यङ्ग्यम्—कूपो जलेन पूर्य्यते, इदन्तु, सखीनां वचनसुधाभारैः कदापि न[2] पूर्य्यत इति । तेन च तासां वचनश्रवणेऽत्यासक्तिरिति ।।१४।।

श्रवणपर्यन्तशुभनयनम् ।
असमशरकञ्जशरजयनम् ।।१५।।

श्रवणेति । यस्य असमशरस्य[3] कामस्य यः कञ्जरूपः शरस्तस्य जयनं जयकर्तृ, श्रवणपर्यन्तं शुभ नयनं राजतीति शेषः । कामवाणा[4] विषयिणां काममुद्दीपयन्ति, श्रीरघुनन्दननयनं तु कामजयिनां[5] मुनीनामपि काममुद्दीपयतीति व्यङ्ग्यम् । तेन च ब्रह्मानन्दात् सखीभावेनोपासनायामानन्दाधिक्यमिति ।।१५।।

ललितकुण्डलगण्डयुगलम् ।
जितमकरचित्रमुकुरतलम् ।।१६।।

ललितेति । जितं मकरस्य चित्रं यस्मिस्तन्मुकुरतलं येन तत्, ललिते कुण्डले यस्मिस्तत् गण्डयुगं यस्य शोभते इति शेषः । अत्र मुकुरचित्रयुक्तादर्शस्य जितत्वोक्त्या[6] गण्डयोः कुण्डलप्रतिबिम्बयुक्तत्वं व्यज्यते । तेन चाऽतिनिर्मलत्वमिति[7] ।।१६।।

नासिका नागमणिसहिता ।
सफलशुकतुण्डजयविहिता ।।१७।।

नासिकेति । सफलस्य फलसहितस्य शुकतुण्डस्य जयो विहितो[8] यया सा, नागमणिगंजमुक्ता तेन सहिता, नासिका यस्य राजतीति शेषः । सफलेत्यनेन शुकस्य हर्षितत्वं[9] व्यज्यते । तेन च तत्तुण्डजयिन्याः नासायाः शोभातिशयो व्यज्यते ।।१७।।

मृदुलमधुरे दशनवदने[10] ।
मदनवनबिम्बरुचिहरणे ।।१८।।

---

१. ख. एन । २. ख. ना । ३. क. असमथशरस्य । ४. ख. कामबाणं । ५. क. कामजायिनां । ख. कामंजयिनां । ६. ख. जितत्वोक्ता । ७. ख. ०मिति व्यज्यते । ८. क. विहीतो । ९. ख. हर्षिताधं । १०. ख. दशनवशने ।

मृदुलेति । मदनवनविम्बस्य रुचेर्हरणे[1], मृदुले च ते मधुरे च ते, यस्य दशनवदने[2] शोभेते इति शेषः । अत्र मधुरपदेन तत्सखीकृताधरामृतपानं व्यज्यते । तेन च त्वमप्यधरपानं कुर्विति[3] ॥१८॥

लसति सहजस्मितमरीचिः ।
विनिन्दितसुधानिधिवीचिः ॥१९॥

लसतीति । विनिन्दिता सुधानिधेरमृतसमुद्रस्य वीचयो यया सा, यस्य सहजा चाऽसौ स्मितमरीचिश्च लसति । अत्र सहजपदेन रघुनन्दनस्य नित्य-शृङ्गारानन्दरूपता व्यज्यत तेन च सर्वदा शृङ्गारसामग्रीसाहित्यमिति । तेन च रासादिलीलाया नित्यत्वमिति । वीचीः पवन उत्थापयति, स्मितं तु सहजमेवेति विनिन्दितपदे हेतुः ॥१९॥

रोचते चारु चिबुकतलम्,
विनिन्दितलघुरसालफलम् ॥२०॥

रोचत इति । विनिन्दितं रसालस्याऽम्रस्य लघुफलं येन तत्, यस्य चारु सुन्दरं चिबुकतलं रोचते । अत्र रसालपदेन चिबुकस्य शृङ्गाररसपूर्णता व्यज्यते । तेन च तच्चुम्बने सखीनां लालसाधिक्यमिति ॥२०॥

कलितमुक्तालिकण्ठवरः ।
विजितमणिवलितललितदरः ॥२१॥

कलितेति । कलिता मुक्तावलिर्मौक्तिकमाल्यं यस्मिन् स, चाऽसौ कण्ठवरः, अत एव विजितः मणिभिर्वलितो ललितो दरः शङ्खो येन सः शोभते इति शेषः । अत्र मणिवलितेत्यनेन शङ्खस्य[4] पूजा[5] व्यज्यते । तेन च गम्भीर-ध्वनिरिति । विजितेत्यनेन कण्ठो निजरोचिषा मुक्ता अपि मरकतयतीति व्यज्यते ॥२१॥

रत्नभूषणकलितदोषौ ।
समणिफणिराजरुचिमोषौ ॥२२॥

---

१. क. रुचेरणे । २. क. ०वसने । ख. ०वशने । ३. ख. कुर्वीति । ४. क. शखृ । ५, क. पूजिता ।

रत्नेति । यस्य रत्नानां भूषणेन ललितौ च तौ दोषौ भुजौ च तौ, मणिभिः सहितस्य फणिराजस्य रुचेर्मोषौ चौरौ राजेते इति शेषः । साङ्गद-भुजमूले समणिफणिनः शोभा दृश्यत[1] एवेति[2] भावः । अत्र चौरत्वोक्त्या[3]याभ्यां फणिनो भयमगणयित्वा तच्छोभासर्वस्व हृतं तयोरबलामनोहरणं[4] किमाश्चर्य-मिति व्यज्यते । तेन च वनितानां सर्वदैव तदालिङ्गनेच्छोज्जृम्भत इति ।।२२।।

करौ काञ्चनरुचिरवलयौ ।
जितसरविकररमानिलयौ ।।२३।

कराविति । काञ्चनस्य रुचिरौ वलयौ ययोस्तौ, अत एव जितं रवि-करेण सहित रमानिलय[5] कमल याभ्यां तौ, यस्य करौ शोभेते । सरविकरपदेन विकसित कमल व्यञ्जितम् । जितपदेन कमलादधिकतापहारकत्व व्यज्यते । तेन च कमलहृतस्तापः पुनरपि भवति, एतत्करहृततापस्तु समूलं नश्यतीति ।।२३।।

सुवक्षः कौस्तुभावासम्[6] ।
हसति शशिसहितमाकाशम् ।।२४।।

सुवक्ष इति । कौस्तुभस्य आवासो यस्मिंस्तत्, यस्य सुवक्षः शशि-सहितमाकाश हसति । आकाशस्य कलङ्किचन्द्रसहितत्वं हसने हेतुः । अत्राऽऽवास-पदेनाऽऽलम्बनस्य हृदयस्य सदोद्दीपनविभावसाहित्यं[7] व्यज्यते । तेन च मिलितावुभौ शृङ्गारमतिशयेनोद्भावयत[8] इति । कौस्तुभस्य चन्द्रोपमया माल्यस्थितमणिमुक्ताप्रभामन्दकर्तृत्वम् व्यज्यते ।।२४।।

सलोमावलिललितमुदरम् ।
सुनाभित्रिवलिदीप्ततरम् ।।२५।।

सशैवालावर्त्तवीचिम् ।
हसति सिन्धुं मणिमरीचिम् ।।२६।।

सलोमेति । लोमावल्या सहितं यत्तत्,[9] ललितं सुन्दरं, शोभने नाभित्रिवल्यौ यस्मिन् तत्, दीप्ततरं प्रकाशबहुल[10], यस्य रघुनन्दनस्योदरं,[11]

---

१. क दृश्य । २. क. इति । ३. ख. चौरवोक्तां । ४. ख. ०रबलामहरनं ।
५. ख. मानिलयं । ६. ख. कौस्तुभवासम् । ७. ख. सद्योद्दीपन० । ८. क. मतिमयोद्भावयत ।
९. क. भ..तु । १०. ख. ०बाहुल्य । ११. क. ०नन्दनस्योरं ।

शैवालश्च आवर्त्तस्सलिलभ्रमिश्च[1] वीचयश्च तारिभिः[2] सह[3] विद्यते स तं, मणीनां[4] मरीचयो यस्मिन् स तं, सिन्धुं समुद्रं हसति[5] तिरस्करोतीत्यर्थः, ततोऽधिकतरं शोभते इति यावत् । दीप्ततरमित्यनेन[6] बृहत्कञ्चुकभूयिष्ठवसनाच्छन्नस्याऽप्युदरस्य[7] छटा उपरि स्फुरतीति व्यज्यते । तेन च कञ्चुकभूयिष्ठवसनयोरतिसूक्ष्मत्वमिति[8] । एतेन सकलेन उदरस्य गम्भीरतातिशयो व्यज्यते । तेन च तदभिप्रायं न कोऽपि जानातीति ॥२५॥२६॥

मध्यमणु[9] जेतुमनपघनम्[10] ।
बद्धपरिकरमिव सरशनम् ॥२७॥

मध्यमिति[11] । यस्य अणु[12] सूक्ष्मं, रशनया सहितं, मध्यं कटिः, न अपघनो[13] ऽङ्गं यस्य सः, अनङ्ग इत्यर्थः । "अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपघन[14]" इत्यमरः । तं जेतुं बद्धपरिकरमिव[15] भातीति[16] शेषः । एतेन कटौ सूक्ष्मतावधिर्व्यज्यते[17] । तेन च पश्यन्तीनां[18] कटिसद्भावासद्भावसंशय इति । अत्र वस्तुना सन्देहालङ्कारध्वनिः । अत्र कविसम्प्रदायानुरोधेन कटिसूक्ष्मतातिशयवर्णनमात्रमेव बोध्यम् ॥२७॥

मञ्जुमञ्जीरपदमचलम् ।
हसितसुरतरुसुकुसुमदलम् ॥२८॥

मञ्जुमञ्जीरेति । यस्य[19] हसितानि सुरतरोः कल्पवृक्षस्य कुसुमैः सहितानि दलानि येन तत्, अचलं स्थिरं, मञ्जुमञ्जीरो[20] यस्मिन् तच्च तत्पदं च तत्, राजतीति शेषः । नटराजवेषं विधायाऽपूर्वकेलिक्रियां विचारयन् रघुनन्दनः स्थित इत्यचलपदेन व्यज्यते । तेन क्रीडायामीदृशशोभादर्शनं दुर्लभमिति ॥२८॥

१, क. आवर्त्तरजलिल० । २. क. तारस्ताभिः । ख. तास्तिभिः । ३. ख. सहि ।
४. ख. मणिना । ५. क. सति । ६. ख. दीप्तगर० । ७. ख. ०छन्नसाप्युदरस्य ।
८. क. ०रतिसूत्वमिति । ९. ख. मध्यमनु । १०. ख. जेतमनुयुधुनम् । ११. ख. मधमिति ।
१२. ख. अनु । १३. क. ख. अपधनो । १४. ख. प्रतीव्योवयतो० । १५. क. ०परिकमिव ।
१६. क. भक्तीति । १७. क. ०व्याज्यते । ख. र्व्यजिते । १८ क मश्यंतीनां ।
१९. क. स्य । २०. क. मंजुर्मांजीरो ।

नखरततिरिन्दुमन्दकरी ।
ध्यातृजनमनोध्वान्तहरी ।।२९।।

नखरततिरिति स्पष्टम् । अयं भावः —यथा रविप्रकाशेन चन्द्रो न प्रकाशते तथैतस्या अपि । किञ्च चन्द्रः केवलं बाह्यमन्धकारं दूरीकरोति । नखततिस्तु बहिरन्तरमयीति । अत्र ध्यातृजनेत्यादिना त्वमप्येतां दृष्ट्वा चित्ते स्थिरीकुर्विति । तेन च तद्ध्यानेन तव[1] भ्रमो विनंक्ष्यतीति[2] व्यज्यते ।।२९।।

करे चरणे च वररेखाः ।
विषमशरवागुरलेखाः[3] ।।३०।।

कर इति । यस्य करे चरणे वररेखाः विषमशरस्य कामस्य 'वागुरा या लेखाः'[4] शोभन्त इति शेषः । ध्यातॄणां द्रष्टॄणां च मनो यत्र बद्धं भवतीति वागुरपदेन[5] व्यज्यते । तेन च रेखानां शोभातिशय इति ।।३०।।

उरसि मातङ्गमणिहारः ।
यथा खे तारकावारः ।

उरसीति । मातङ्गमणीनां गजमुक्तानां हारः, उरसि तथा शोभते यथा खे आकाशे, तारकाणां वारः समूहः । अत्र तारकावारशब्देन शतभिषक्नक्षत्रं व्यज्यते । तेन च हारमुक्तानां[6] न्यूनाधिक्यराहित्यमिति ।।३१।।

वैजयन्तीभासविशदम् ।
दाम वैकक्षिकं सुखदम् ।।३२।।

वैजयन्तीति । आजानुलम्बिनी[7] पञ्चरङ्गमणिमयी माला वैजयन्तीत्युच्यते, तस्या भासेन विशदं सुन्दरं, वैकक्षिकं[8] दाम सुखदमस्तीति शेषः । उपवीतवदालम्बि पुष्पमाल्यं वैकक्षिकमित्युच्यते । विशदमित्यनेन अनेकरङ्गमणिमयीवैजयन्तीप्रभासम्पर्केण वैकक्षिकस्येन्द्रधनुःसादृश्यं व्यज्यते । तेन च रघुनन्दनस्य मेघसादृश्यमिति ।।३२।।

---

१. क. व । २. क. ख. वितंक्ष्यतीति । ३. ख. विषमशरवागुणवेखा ।
४. '—' ख. पुस्तके 'वा गुण्याः वेखा' इति पाठः । ५. ख. वरगुण्य० । ६. ख. हामुक्तानां ।
७. क. अजानु० । ८. क. वैकक्षकं ।

प्रलम्बापीडवनमालाः ।
लसन्त्यतिकान्तिकुलशालाः[1] ॥३३॥

प्रलम्बेति । यस्य कण्ठे बद्धा आनाभिलम्बिनीमालाः[2] प्रलम्बाः[3], शिरसि बद्धाः पुष्पमयीमालाः आपीडाः[4], आपादलम्बिनीपत्रपुष्पमयीमाला वनमालाः, इमा माला अतिकान्तिकुलस्य अतिशयितकान्तिसमूहस्य शालाः निवासस्थानभूताः, लसन्ति शोभन्ते । अतिकान्तिकुलशाला[5] इत्यनेन मुकुटभूषणानेकरङ्गमणि-प्रभाभी रघुनन्दनशरीरच्छविच्छटाभिश्च[6] विचित्रवर्णाः लक्ष्यन्त[7] इति व्यज्यते । तेन च काचिदपूर्वशोभा दृश्यत इति ॥३३॥

विश्वनाथोदितं गीतम् ।
कुरु श्रीः ! स्वश्रवणनीतम् ॥३४॥

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते संगीतरघुनंदने
सर्वाङ्गशोभावर्णनं नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

विश्वनाथोदितमिति[8] । हे श्रीः ! हे लक्ष्मीः[9] ! विश्वनाथेन उदितं, गीतं स्वश्रवणनीतं कुरु । एतेन[10] मयेदं[11] स्वबुद्धया नोत्प्रेक्षितमिति व्यज्यते । तेन च नैतत् कवितामात्रं, किन्तु सत्यमिति । तेन चैतादृशो रघुनन्दन एव नाऽन्य इति ॥३४॥

इति सिद्धि[12]श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंहकृतायां
व्यंग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीकायां दशमः सर्गः ॥१०॥

---

१. ख. लस्यन्त्यतिकांतिकुशला । २. क. अनःभि० । ३. क. ख. प्रलम्बा ४. क. अपीडः । ५. क. ०कान्तिकुशाला । ६. क. ०च्छाटाभिश्च । ७. क. लंक्ष्यंत । ८. ख. ०वितिमित । ९. क. लक्ष्मि । १०. ख. तेन । ११. क. सयेदं । १२. ख सिद्धः ।

[अथ एकादशः सर्गः]

काचित्ताम्बूलपेटीमधृत मणिपतद्ग्राहमन्याऽऽतपत्रम्,[1]
प्रासूनस्नेहपात्रं व्यजनमपि[2] परा गन्धवन्नीरपात्रम् ।
रत्नाढ्यं स्वर्णपात्र विमलजलयुतं चामरं काचिदन्या,
तासां[3] मध्ये स्म काचिद् वहति रसभराक्रान्तचित्ता[4] सखीं स्वाम् ।।१।।

काचिदिति स्पष्टम् । अत्र रसभराक्रान्तचित्तेत्यनेन[5] तदुक्तेरपि रसवत्ता[6] व्यज्यते । तेन च तस्या उद्दीपनातिशय इति ।।१।।

मोदविकाशे रासविलासे,
रघुनन्दनमिथिलेशनन्दनी ।
स्वगुणगर्विता गायति गीतम्,
सकन्दर्परतिदर्पकन्दनी[7] ।।१।।

तदेवाऽऽह—मोदविकाश इति । कन्दर्पेण सहिताया रतेर्दाम्पत्यसौन्दर्ययोस्सकलगुणानां च दर्पस्य कन्दनी नाशयित्री, रघुनन्दनेन सहिता मिथिलेशनन्दनी[8], स्वेन गुणेन गर्विता सञ्जातगर्वा सती, मोदस्य विकाशो[9] यत्र तत्र, रासस्य विलासे, गीतं गायति । रघुनन्दनमिथिलेशनन्दनीति पदद्वयेनोभयो. समता व्यञ्जिता । तया च श्रृङ्गाररसपूर्णतेति । स्वगुणगर्वितेति पदेन निजगानेन[10] रघुनन्दनगानविजिगीषा व्यञ्जिता[11] । तया च तद्गाने[12] माधुर्यातिशय इति ।।१।।

पदयुगलेन लिखति शिखिकरिणौ,[13]
लघु नृत्यन्ती भावगामिनी ।
सुचमत्कृतियतिगतिचलचित्ता,
चिबुकं चुम्बति चारुकामिनी ।।२।।

पदयुगलेनेति । गाने यो भावस्तेनैव गामिनी गमनशीला, लघु शीघ्रं, नृत्यन्ती सती, पदयुगलेन शिखिकरिणौ[14] लिखति । एकेन मयूरगत्या मयूरमित्यपरेण[15] गजगत्या गजमित्यर्थः । एते गती सङ्गीतशास्त्रप्रसिद्धे । य

१. ख. मणियतद्ग्राह० । २. क. व्यजश्न० । ३. ख. तासां । ४. ख. ०क्रान्तम्चिता ।
५. ख. रसभारा० । ६. क. रसवक्ता । ७. क. संकदर्प० । ८. ख. ०नंदि ।
९. क. विशो । १०. ख. निजजानेन । ११. ख. विजिता । १२. ख. भक्ताने ।
१३. ख. शिखिकरणौ । १४. क. ख. शिखिकरणौ । १५. ख. मयूरमितिरेण ।

भावमन्या विलम्बनृत्ये महता परिश्रमेण सूचयेत्[1] सोऽनया तरलनृत्येऽपि न त्यज्यत इति भावगामिनीपदे[2] व्यङ्ग्यम् । सुचमत्कृतिरिति[3]—सुष्ठु शोभनाश्च-मत्कृतयो यासु ताश्च पत्यू रघुनन्दनस्य गतयश्च तासु चलं चपलं चित्तं यस्याः सा, कामिनी श्रीजानकी, चारु यथा तथा चिबुकं चुम्बति, पत्युरिति शेषः । अत्र कामिनीपदेन तस्या रघुनन्दनगतिभ्योऽधिकचमत्कारवतीर्ग्रहीतुमभिलाषो[4] व्यज्यते । तेन च नृत्ये रघुनन्दनस्य प्रवीणतातिशयो व्यज्यते ।।२।।

मिलितसुमञ्जीरध्वनिरशना[5],
ध्वनिचालितसुरपुरविलासिनी ।
श्रमजलयुतचलकुन्तलकुण्डल-
मुखमनोहरस्मितविकासिनी ।।३।।

मिलितेति । कीदृशी जानकी ? मिलितस्सुमञ्जोरयोर्ध्वनिर्यस्मिन् स चाऽसौ रशनाध्वनिश्च[6] तेन चालिताः आकृष्टचित्ताः[7] सुरपुरविलासिन्यो[8] देवाङ्गनाः यया सा । ध्वनिचालितेत्यादिना तासां तन्नृत्यशिक्षोत्कण्ठातिशयो व्यज्यते । तेन च जनकनन्दन्या नृत्यनिपुणतातिशयो व्यज्यते । अत्र साकेतस्य परितो ब्रह्मादीनां पूर्वावतारिकथनप्रस्तावे लिखितानां वासस्थानानि सन्त्यतस्तत्र-त्यदेवाङ्गना[9] ज्ञातव्याः । श्रमेति—श्रमजलं स्वेदस्तेन युतं चलाश्चञ्चलाः कुन्तलाः कुण्डले च यत्र तच्च तन्मुखं च तेन मनोहरस्मितस्य[10] विकासिनी । स्मितविकासिनीत्यनेन रघुनन्दनस्य नृत्यशैथिल्यं[11] व्यज्यते । तेन च जानक्याः जय इति ।

तानवितानिरतरमणीगण-
राजितरासे रमणरञ्जनी ।
विश्वनाथकथिता पदगाथा,
जयति सकलसन्तापभञ्जनी ।।४।।

तानेति । तानानां विताने विस्तारे निरतेन रमणीनां गणेन राजिते रासे, रमणस्य रघुनन्दनस्य रञ्जनी रञ्जनकर्त्री । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—यांस्तानान्

---

१ क. सूयचयेत् । २. ख. भाभावगामि० । ३. ख. सुचमत्कृतीति । ४. ख. ०मभिलाषं ।
५-६. क. ख. रसना० । ७. क. आकुचित्ताः । ८. ख. ०विलान्यो । ९. क. संत्यस्तत्र० ।
१०. ख. मोहरस्मि० । ११. ख. मृत्य० ।

सख्यो गृहीतवत्यस्तानेव स्वनूपुरघण्टिकास्वरावर्त्तेन प्रकटितवतीति । तेन च तासां पराजयं विस्तारितवतीति सकलस्य वक्तुः श्रोतुश्च सन्तापस्य भञ्जनी, विश्वनाथेन कथिता, पदगाथा जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । जयतीति रासस्य सदातनत्वात् रासवर्णनगाथाया अपि तथात्वात् पूर्वसिद्धवपा पदगाथा, श्रीरघुनन्दनो मन्मुखेन प्रकटितवानिति व्यज्यते ॥४॥

प्रकाशपरमानन्दपरमानन्दविग्रहः[1],
रामो रमयते रामा राससङ्गीतनर्त्तनैः ॥१॥

प्रकाशेति । रासे सङ्गीतनर्त्तनैर्नृत्यविशेषै[2]:, अथवा सङ्गीतैर्नर्त्तनैश्च[3] । अत्र रामरामापदाभ्यां रमणशीलत्वं व्यज्यते । तेन च रासक्रीडासु तृप्त्यभाव[4] इति ॥१॥

मिलितेतरेतरस्वरगानं धृतेतरेतरकण्ठम् ।
नृत्यति नर्त्तयते न विमुञ्चति, जनकदुहितुरुपकण्ठम् ॥१॥

मिलित इति । मिलित इतरेतरयोः स्वरो यत्र तद्गानं[5] यत्र कर्मणि तद्यथा भवति तथा, धृत इतरेतरयोः कण्ठो यत्र कर्मणि तद्यथा तथा स्वयं नृत्यति, सर्वाश्च नर्त्तयते, तथाऽपि जनकदुहितुरुपकण्ठं समीपं न विमुञ्चति । अत्र नृत्यति नर्त्तयत इति क्रियापदद्वयेन यां गतिं[6] गृहीत्वा स्वयं नृत्यति तामेव गतिं नेत्रकरचेष्टया त्वमपीमां गतिं गृहाणेति[7] सूचयतीति व्यज्यते । तेन चेतरेतरनयनेऽपि[8] मिलिते इति । न विमुञ्चतीत्यादिना नृत्ये तरलतातिशयो व्यज्यते । इत्थं जानकीसहितानां सखीनामग्रे[9] नृत्यन्सखी रमयते इति भावः ॥१॥

नीराजयति मुकुटरुचिराजिभिरासामाननचन्द्रम् ।
करचलनेन चालयति चेतः पदगतेन क मन्दम् ॥२॥

नीराजयतीति[10] । आसां सखीनां आननमेव चन्द्रः, चन्द्रतेः[11] पचादित्वादच्[12], तं, मुकुटरुचीनां राजिभिर्नीराजयति । नर्त्तने मुकुटे चलति सति रत्नरोचिश्छटाभिः

---

१. ख. प्रकाश्यपर० । २. ख. ०भृंत्यविशेषैः । ३. ख. संगीततै० । ४ क. तृप्त्यभावः । ख. तृप्तभावः । ५. ख. यद्गानं । ६. ख. प्रति । ७. ख. राहाणेति । ८. ख. ०णयनेऽपि । क. ०नयतेऽपि । ९. क. सखीमग्रे । ख. समग्रे । १०. क. ख. नीरायतीति । ११. ख. चन्दतेः । १२. ख. पचादित्वाच ।

सखीनामाननस्य[1] नीराजनमिव करोतीति स्पष्टार्थः। एतेन सखीनां वदनस्य पूर्णशरद्विधुविजयो व्यज्यते[2]। तेन च रासे प्रकाशाधिक्यमिति। अत्र गम्योत्प्रेक्षाध्वनितप्रतीपालङ्कारेण[3] वस्तुध्वनिः[4]। करेति—करचलनेन सखीनां चेतश्चालयति, पदस्य गतेन गत्या आसां कं शिरः मन्दं यथा तथा चालयति। भावसूचनायां करचलनवैलक्षण्यमवलोक्य सखीनां चेतश्चलतीति[5] भावः। तस्योत्तमगतीनां प्रशंसने किञ्चिच्छिरश्चलतीति भावः। करचलनेनेत्यादिवाक्येन भावसूचने करं चालयित्वा किञ्चिद्रहस्यं सूचयतीति व्यज्यते। शिरश्चालनेन[6] गतेः प्रशंसा व्यज्यते ॥२॥

भ्रमद्भृकुटिदरचललोचनेन[7] कुरुते गीतनिरुक्तिम्[8],
कान्ताकान्तकटाक्षाकलने कलयति कामपि युक्तिम् ॥३॥

भ्रमद्भृकुटीति। भ्रमन्तो भृकुटिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा[9] तथा दरमीषच्चलेन लोचनेन गीयमानस्य[10] निरुक्तिं निर्वचनं कुरुते। अयं भावः—यत्र कोपस्य[11] भाव आपतति तत्र तस्य नयनारुण्याद्यनुभावं, यत्र च मान आपतति तत्र तस्याऽश्रुपाताद्यनुभावं, यत्र च विरह आपतति तत्र तस्य मुखवैवर्ण्याद्यनुभावमित्थं यत्र यो भाव आपतति तत्र तस्याऽनुभावं नयनेन[12] सूचयतीति। कान्तेति[13]—कान्तानां कान्ता मनोहरा ये कटाक्षास्तेषामाकलने स्वीकारे कामप्यनिर्वचनीयां युक्तिं[14] कलयति। युगपदापततः सकलसखीकटाक्षान्[15] स्वीकृत्य प्रतिसखि[16]-निजकटाक्षैरेकदैवोत्तरं[17] ददातीति भावः। एतेन विदग्धतातिशयो व्यज्यते। तेन च श्रीरघुनन्दनस्य नवनवालौकिकातिविचित्रशृङ्गाररसचमत्कारप्रकाशकत्वं व्यज्यते ॥३॥

काचिद्वाद्यमिलन्मणिनूपुरमानदानकलगानैः।
अतिप्रसन्नं कुरुते रमणं कोककलारसपानैः ॥४॥

काचिदिति। काचित्सखी कोके कामशास्त्रे याः कलास्तासां रसस्य पानं येषु तैः, वाद्यैर्मिलद्भिर्मणिनूपुरशब्दैः[18] मानस्य सङ्गीतशास्त्रे प्रसिद्धस्य

---

१. ख. सखीनामानस्य। २. ख. विज्य। ३. ख. गम्योत्प्रेच्छा०। ४. ख. ध्वनि।
५. ख. चेतश्चतीति। ६. क. शिरश्चालनेगनेन। ७. क. ख. भ्रमद्भ्रकुटि०।
८. ख. गीतिनि०। ९. क. तद्या। १० क. गीतमानस्य। ११. ख. कोप।
१२ ख. नाऽस्ति। १३. क. कांक्तति:। १४: ख. मुक्ति। १५. क. कलसखी०।
१६. क. प्रतीसखि। १७. क. ०रैकदैवा। १८. ख. वाद्यैमिलाद्भिर्म०।

मानस्य सङ्गीतशास्त्रे प्रसिद्धस्य भाषायां[1] च 'सम'शब्देन प्रसिद्धस्य दानैश्च कलैर्मधुरस्फुटध्वनिविशिष्टैर्गानैश्च रमणं श्रीरघुनन्दनमतिप्रसन्नं कुरुते । वाद्य-मिलन्मणिनूपुरे निषादादिस्वराणां कलसप्तकं मन्द्रसप्तकं तारसप्तकं च बद्धं तत्र यस्य सप्तकस्य यः स्वरो वीणादिषु निःसरति तत्स्वरशब्दिनीमेव[2] नूपुरगुटिकां शब्दायतीति भावः । एतेन रघुनन्दनाच्छिक्षितं तत्क्षणमेव प्रदर्शितवतीति[3] व्यज्यते । तेन च तस्या अतिमेधावतीत्वमिति । अत्राऽयं भावः—मानदानेति—'व्याकरणे यथा अनुदात्तस्वरितोदात्ताः प्रसिद्धास्तथा सङ्गीतकशास्त्रे कलमन्द्र-ताराः'[4] कदाचिच्चरणेन, कदाचित्करेण, कदाचिन्नयनेन, कदाचिच्छिरश्चालनेन[5] मानं ददातीति । कोकेत्यादि—कोककलाप्रतिपादकार्थवद्गानेन तत्तद्विहार-स्मरणतो रसपानं भवतीति भावः ॥४॥

काऽपि मेघरमणीयरागतो वर्षात्वं दर्शयते[6] ।
नायकनयननवीनघनेन च सुखनीरं वर्षयते ॥५॥

काऽपीति । काऽपि सखी मेघनामा यो रमणीयो रागः ततः तद्गाना-दित्यर्थः, वर्षात्वं दर्शयते । तदेव दर्शयति—नायकस्य रघुनन्दनस्य नयनमेव नवीनो घनः तेन सुखनीरमानन्दाश्रु वर्षयते । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—कान्ताकान्त-कटाक्षेत्यादिव्यञ्जितश्रीरघुनन्दनकृतवैदग्ध्यकर्मणः मेघरागेणैवोत्तरं[7] दत्तवतीति व्यज्यते । तेन च प्रथमसखीकृतस्य रघुनन्दनस्य शिक्षाप्रकटनरूपस्य कर्मणोऽना-दर इति । अत्र काव्यलिङ्गरूपकालङ्कारसङ्करध्वनितवस्तुना[8] वस्तुध्वनिः ॥५॥

दाराः केदाराकलगानैः कुर्वन्त्यम्बरममलम् ।
विश्वनाथ इति वदति विकसितं[9] नवनायकहृत्कमलम् ॥६॥

मेघरागगानतो मेघाडम्बरेण रासविच्छेदं मत्वा काश्चित्सख्यो जगुरि-त्याह—दारा इति । दाराः श्रीरघुनन्दनस्य सख्यः, केदारायाः केदाराख्यरागिण्याः कलगानैः, अम्बरमाकाशममलं कुर्वन्ति, मेघं दूरीकृत्य शरत्कालं प्रवर्त्तयन्तीत्यर्थः । एतेन तस्या अप्युत्तरमेताः कृतवत्य इति व्यज्यते । तेन चाऽऽसां तस्या अपि

---

१. ख. साखायां । २. क. तत्स्वशब्दिनी० । ३. ख. दर्शितवती० ।
४. '—' चिह्नान्तर्गतांशस्याऽभावः क. पुस्तके । ५. क. ०च्छिरश्चालेने ।
ख. ०च्छिप्श्चालेनेन । ६. ख. दृश्यते । ७. ख. मेघरागेमैवोत्तरं ।
८. ख. ०रूपकालकारध्वनित० । ९. क. ख. विकशितम् ।

वैदग्ध्यातिशय इति । नवनायकस्य श्रीरघुनन्दनस्य हृत्कमलं विकसितमिति । विश्वनाथो वदति विकसितमित्रस्पर्द्धाविधायिनीसखीमेतां[1] अनायासेन जयन्तीति व्यज्यते । तेन च प्रसन्नताधिकतेति । नवनायकपदेनाऽधिकरासविधानाभिलाषो व्यज्यते ॥६॥

नृत्यति रसिकशिरोमणिरामः ।
यस्य चरणचरणं[2] विलोक्य ।
परिमुञ्चति मान कामः ॥१॥

क्रमेण जानकीरघुनन्दनयोर्नृत्यं ततः सखीनां नृत्यं वर्णयित्वा रघुनन्दन-नृत्यं वर्णयति—नृत्यतीति । रसिकशिरोमणिः स चाऽसौ रामो नृत्यति । यस्य रामस्य, 'चरणस्य चरणं गतिविशेषं'[3] विलोक्य[4] कामः मानं परिमुञ्चति । अन्यरसिकानां परकीयासु रसाधिक्य भवति, रघुनन्दनस्य स्वकीयास्वेवेति रसिक-शिरोमणिपदे[5] व्यङ्ग्यम् । तेन च रघुनन्दनस्य परकीयापराङ्मुखत्वमिति[6] । चरणकमलमित्यादावय भावः—यादृश[7] शीघ्रचारि[8] जनवश्यकारि रघुनन्दनस्य चरणकमल तादृश मम बाणकमल नाऽस्तीति ॥१॥

कुञ्चद्भ्रूकुटिभावसंसूचनचेतश्चोरणचतुरः ।
सखीसमर्पितवीटीचर्वितदरचलकुञ्चितचिकुरः[9] ॥२॥

कुञ्चद्भ्रूकुटीति । कीदृशः कुञ्चन्त्या भृकुट्या भावस्य संसूचनेन चेतसश्चोरणे चतुरः[10], सख्या समर्पितायाः वीट्याश्चर्वितेन[11] दरमीषच्चलाः[12] कुञ्चिताश्च चिकुरा यस्य सः, अथ[13] प्रथमविशेषणेन चित्तचोरयित्रीणामपि निजगुणगर्वितानां मनः यद्भ्रूकुटिकुञ्चनमात्रेणैव स्वाधीनं भवतीति[14] व्यञ्जितम् । तेन च तासां चित्तचोरणगर्वो मन्दीभवतीति व्यञ्जितम् । द्वितीये[15] च वीटीचर्वणादेवाऽलकचलनेन[16] कस्मिंश्चिन्नृत्यविशेषे चरणमेव चलति,

---

१. क. विकसितमित्रत्ययस्पर्द्धा० । ख. विकसितमित्रंस्पवर्द्धा० । २. ख. चरणकमल ।
३. '—' चिह्नितांशस्थाने 'चरणकमल' इति पाठः ख. पुस्तके । ४. क. लोक ।
५. क. रकशिरोमणि० । ६. क. ०परालुखत्वमिति । ७. ख. यदिशं ८. क. शीचारिजन० ।
९. ख. ०समर्पितवोटी० । १०. ख. चतुः । ११. ख. वीसाश्च० । १२. ख. मीचलत्पलाः ।
१३. ख. अत्र । १४. ख. न भवतीति । १५. ख. द्वितेये । १६. क. विटीचर्वणा० ।

भूषणानि अङ्गानि च न चलन्तीति व्यज्यते । तेन च नानारीत्या नर्त्तन-मिति[1] ॥२॥

सङ्गीतकतरलिम्ना गर्विततडिद्गर्वपरिहारी[2] ।
तरुणीरश्मिसितस्मितदर्शनवनिताविस्मितकारी ॥३॥

सङ्गीतको[3] नृत्यविशेषस्तस्मिन् यस्तरलिमा चपलत्वं तेन, गर्विताया-स्तडितो गर्वं परिहरतीति । एतेन चपलाया गतागतं ज्ञायते, श्रीरघुनन्दनस्य तु न ज्ञायते, किन्तु सर्वाभिः स स्वस्वपुरो नृत्यन् दृश्यत इति व्यञ्जितम् । तेन च चपलतावधिरिति । तरुणीति—तरुणीषु रश्मयः किरणा यस्य तत् 'तच्च तत्'[4] शुभ्रं स्मितं च तत् तस्य दर्शनेन वनितानां विस्मितं आश्चर्यं[5] करोतीति । यदा स्मयते तदा तरुणीषु पतिता हासच्छटा[6] किं सुधावृष्टिर्जातेति तासां विस्मयं जनयतीति भावः ॥३॥

ससखीसीतासङ्गीतेक्षणसुखितशिर सञ्चाली ।
विश्वनाथनिनदेन निन्द्यते समदमदननिनदाली ॥४॥

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते संगीतरघुनंदने श्रीजानकीरघुनंदनयोर्गीतनृत्यवर्णनं[7] नामैकादशस्सर्गः[8] ॥११॥

ससखीति । सखीभिः सहितायाः सीतायाः[9] सङ्गीतकस्य ईक्षणेन सुखितः स चाऽसौ स च, ससखीत्यादिना तादृशजानकीकर्त्तृकनृत्यमुक्तम्, शिरःसञ्चालीत्यनेन भावसूचने जानकीज्ञापितरहस्यविज्ञातृत्वं व्यञ्जितम् । विश्वनाथो[10] रघुनन्दनस्तस्य[11] निनदो गानशब्दः तेन, समदस्य मत्तस्य मदनस्य निनदाली गानशब्दपरम्परा[12] निन्द्यते[13] । अत्र समदमदने [ति पदेन रघुनन्दनस्य मदपानं व्यज्यते । तेन च सखीसहितसीताया अपीति । श्रीरघु-नन्दने][14] सदा सरलस्वभावा[15] ससखीका[16] जानकी मदपानेनैव गर्वं[17]

---

१. ख. नर्त्तनमि । २. ख. गर्वितातडि० । ३. ख. सङ्गीतकं । ४. '—' अंशोऽयं नास्ति ख. पुस्तके । ५. क. ख. आर्य्यं । ६ ख. हाच्छटा । ७. क. ०णोननृत्य० ।
८. ख. ०कादशो सर्गः । ९. ख. नाऽस्ति । १०. क विश्वो नाथो । ११. क. ०नन्दनसास्य । १२. ख. मानशब्द० । १३. ख. निंदिते । १४. [—] कोष्ठगांशस्याऽभावः ख. पुस्तके । १५. क. ०स्वभावस । १६. ख. सखी । १७. क. र्गं ।

करिष्यति, सोऽपि तस्यां [1]ताद्दगस्तेनैवाऽन्तर्द्धास्यतीति तत्त्वम् । अत्र कविपक्षे विश्वनाथेति—विश्वनाथस्य सङ्गीतरघुनन्दनकाव्यरूपनिनदेन समदस्य मदपान-मत्तस्य मदनस्य निनदाली निन्द्यते । 'अत्रेदं व्यङ्ग्यम्'[2]—एतेन कवेरपि रासवर्णनरसासवास्वादमत्तत्वं[3] व्यज्यते । तेन च मदनः प्राकृतमदं पीत्वा कथनानर्हां प्राकृतवार्त्तां कथयति । अहन्तु[4] श्रीजानकीरघुनन्दनस्य परमदिव्य-रासवर्णनरसासव निपीय कथनानर्हमपि विरहवर्णनं करोमीति ॥४॥

इति [5]सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंहकृतायां व्यङ्ग्यार्थ-चन्द्रिकानाम्नि टीकायामेकादशः सर्गः ॥११॥

———

[अथ द्वादशः सर्गः]

नृत्यन्ती रासमध्ये निजगुणगुरुतागर्वसम्भारभाजः,
प्रेयांसं प्रीयमाणं स्ववशमुपगतं निर्भरं मन्यमानाः ।
रामा रामोऽवलोक्याऽभिमतिमुपचितां हर्त्तुकामस्तदानीं,
तासामन्तर्हितोऽभूत्प्रियतमविरहव्याकुलास्ता विचेरुः ॥१॥

नृत्यन्तीरिति । रामः रासमध्ये नृत्यन्तीः, निजगुणगुरुतागर्वसम्भारभाजः, निर्भरं प्रीयमाणं प्रेयांसं श्रीरघुनन्दनं स्ववशमुपगतं स्वाधीनं मन्यमानाः, रामाः सखीरवलोक्य, तासामुपचितां वृद्धां, अभिमतिं अभिमानं, हर्त्तुकामः सन्, तदानीमन्तर्हितोऽभूत् । प्रियतमविरहव्याकुलास्ताः सख्यो विचेरुः । अत्र राम इति पदेन रमणशीलत्वं व्यज्यते । तेन च झटिति प्रकटतेति । अत्राऽभिमान-हरणं बाह्य प्रयोजनं, अन्तर्द्धानेऽन्तरेऽयमाशयः—अन्तर्द्धायाऽऽविर्भूते[6] सख्यो मयि प्रेमातिशयं विधास्यन्ति तथा मिलितायां सीतायां ममानन्दोऽभूत्तथैवेति ॥१॥

---

१. ख. द्दशस्तेनै० । २. '—' नाऽस्त्ययमंशः ख. पुस्तके । ३. क. ०स्वादमत्तं ।
४. क दातस्तु । ५. ख. सिद्ध० । ६. क. अन्तर्द्धाविर्भूते ।

प्रमोदवनकुञ्जेषु मृगयन्त्यो रघूद्वहम् ।
मार्गे मार्गे रमण्यस्ताः पृच्छन्ति स्म लतास्तरून् । २।।

प्रमोदेति स्पष्टम् । एतेन वनितानां विक्षिप्तता व्यज्यते । तेन च प्रमोदवनस्याऽप्युद्दीपनत्वमितीदं केवलकविसम्मतम् । प्रमोदवनीयकुञ्जत्वात्तासां[1] मार्गणस्मृतिरप्यासीदन्यथा का दशा[2] भवेदिति[3] को नु जानातीति व्यङ्ग्यम् । इदं तु रसिकवैष्णवसम्मतमिति ।।२।।

मन्मथबाणमथितमुद्व्यथितं खलु मे हृदयं,
कलयाऽशोकमशोक ! ।
शरणमितं वनितामण्डलमिह रक्षसि किं न स्तोक,
अहह बत 'रक्षसि किं न स्तोक !'[4] ।।१।।

तत्र काचिदशोकं पृच्छति—मन्मथेति । हे अशोक ! खलु निश्चयेन मन्मथस्य बाणैर्मथितं अत एव उत्कृष्टा व्यथा जाता अस्मिन्निति तादृशं मे हृदयं, अशोकं कलय[5] विधेहि । इति कथितेऽप्यदूरीभूतव्यथा पुनराह—शरणमिति । हे स्तोक हे क्षुद्र ! इह निर्जने वने, शरणमितं शरणं प्राप्तं, वनितानां मण्डलं समूहं, किं न रक्षसि ? एतेन ये[6] एतादृग् नामख्यातिं कृत्वा नामानुगुणं[7] कर्म न कुर्वन्ति ते लौकिकैरेव[8] कथनयोग्या एवेति व्यज्यते । तेन च रामं प्रत्युपालम्भो व्यज्यते । अशोकोऽपि रक्षां न करोतीत्यहह बत अद्भुतखेदः । अहहेत्यद्भुते, बतेति खेदे उद्व्यथितमिति[9] । एकस्मिन्बाणे लग्ने महती व्यथा भवति, पञ्चभिर्बाणैर्मथिते[10] हृदयेऽतिव्यथायुतैवेति[11] भावः । खल्विति—न हास्यं करोमि न चाऽसत्यं कथयामीति भावः । अशोक कलयेत्यनेन[12] रघुनन्दनं दर्शयेति व्यज्यते । वनितामण्डलं शरणमितमिति—प्रथमतो जात्यैव दयनीयास्तत्राऽपि निर्जने वने रक्षकरहितास्तत्राऽपि शरणागतास्ता अपि न रक्षस्यतः क्षुद्रतरोऽसीति भावः । अहह बतेति ध्रुवपदम्[13] ।

---

१. क. कुंजत्वासां । २. क. शा । ३. ख. भविष्यतीति ।
४. '—' क. पुस्तके चिह्नगतोंऽशो नाऽस्ति । ५. क. कय । ६. ख. ह । ७. क. नामानुहूणं ।
८. ख लोकैरेव । ९. ख. अद्व्यमिति । १०. ख. पचाभि० । ११. ख. मम हृयेऽतिव्यथायुक्तै० ।
१२. क. लयेलयेत्यनेन । १३. ख. स्तोभो गाने प्रतिपद्यं चरणावर्त्तनार्थः ।

कुसुमनखेन विदीर्णं बहुशो भवता हृदयं,
खिद्यति[1] विगतत्रास ! ।
रहितत्रपं कानने विलससि, विरहिपलाश पलाश ! ।।२।।

ततः काचित्पलाशं प्रत्याह—कुसुमनखेनेति । विरहिणां पलं मांसमश्नाति तत्सम्बुद्धिः, हे विरहिपलाश ! हे पलाश ! भवता कुसुममेव नखस्तेन बहुशो विदीर्णमस्माकं हृदयं खिद्यति । अतो हे विगतत्रास ! त्वं रहितत्रपं त्यक्तलज्जं यथा तथा, कानने विलससि । विरहिमांसाशित्वात् त्वमेव हृदयं विदारितवानतस्त्वत्कुसुमनखेष्वारुण्यमिति भावः । अस्मद्रक्षकं श्रीरघुनन्दनं विनेदानीं कस्मात्तव भयं[2] भवेदिति विगतत्रासेत्यनेन व्यज्यते । तेन च विरहे दुःखदवृक्षेभ्योऽस्याऽतिधृष्टतेति । प्रथमतोऽबलास्तत्राऽपि[3] रक्षकरहिता अस्मान्न रक्षित्वा हृदयविदारणं कुर्वतस्तव सर्ववृक्षैर्दृश्यमानस्य लज्जाऽपि न भवतीति रहितत्रपमित्यत्र व्यङ्ग्यम् ।।२।।

रसालयरमणं दिश खिन्नं बहु मे हृदयं[4],
मञ्जरिकाकृतमाल ।
मुञ्च मुञ्च शोकदतद्गुणमिह, विदितरसाल रसाल ।।३।।

ततोऽन्या रसालमाह—रसालयमिति । रसेन आलते शोभते इति विदितश्चाऽसौ रसालश्च[5] 'तत्सम्बुद्धिः, हे विदितरसाल'[6] ! मञ्जरिकाभिः कृता[7] माला येन[8] तत्सम्बुद्धिः ईदृश, हे रसाल हे आम्र ! मे मम हृदयं[9] बहु खिन्नं, अतस्त्वं रसस्य आलयमाधारं रमणशीलं श्रीरघुनन्दनं, दिश सूचय—इह शोकदश्चाऽसौ तस्य रघुनन्दनस्य गुणश्च सः तं, मुञ्च मुञ्च । समानशीलव्यसनेषु सख्यमिति[10] । एतेन युवयोः सख्यं व्यज्यते । तेन च[11] त्वं जानासीति ।।३।।

विश्वनाथचलनाथविरहितं चलदल हृदयं,
भूषितविटपिसमाज ! ।
प्रियं निवेदय तव[12] वनलीनं, पाहि पाहि तरुराज ! ।।४।।

---

१. क. खिद्यति । २. ख. नाऽस्ति । ३. क. प्रथमतोऽबस्त० । ४. क. हृदये ।
५. ख. रसाल । ६. '–' ख. अयमंशो नाऽस्ति । ७. ख. कृत । ८. ख. यन । ९. ख. हृयं ।
१०. ख. सख्यमिति तन्यायाः । ११. क. नास्ति । १२. क. तत ।

विश्वनाथेति । अस्माकं हृदयं, विश्वनाथस्य चलेन चञ्चलेन[1] नाथेन विरहितमस्ति । अत:[2] भूषित: विटपिनां समाजो येन ईदृश, हे चलदल ! तव वनलीनं प्रियं निवेदय — हे तरुराज[3] ! अस्मान् पाहि पाहि । एतेन त्व चलदल:, स चञ्चलस्वभावस्तेन त्वं तस्य धूर्त्ततां ज्ञास्यसि । त्वं ससमाज: स एकाकी त्वद्वन एव लीनस्तरूनाज्ञाप्य[4] तैश्च[5] तं गृहीत्वा[6] आनय । त्वं तरुराजस्त्वया नयानयविचार: कर्त्तव्य इति । तेन चेमा निरपराधास्त्यक्ता: सापराधा वेति पृच्छेति व्यज्यते । एतद्गीतेन प्रमाददशोक्ता ।।४।।

मिल[7] नाथ अए[8] !
हा हा नयनाञ्जन तापविभञ्जन रमणीरञ्जन ! तव विरहे ।
सम्भवति कराला ज्वलनज्वाला सुमनोमाला किमु विषहे[9] ।।१।।

मिलेति[10] । अए[11] इति कोमलायेऽन्यत्स्पष्टम्[12] । अत्र नाथेति पदेन त्वय्यन्तर्हिते वयमनाथा:[13] स्म इति व्यज्यते । हा हेति खेदे[14] नयनयो-रञ्जनमिवेति[15] तत्सम्बुद्धि:, हे तापस्य विभञ्जन ! हे रमणीनां[16] रञ्जन ! तव विरहे [17]सुमनोमाला कराला ज्वलनस्य वह्नेः ज्वाला संभवति, उ इति प्रश्ने, त्वमेव वद, तां किं विषहे, सा कथमपि न सह्यत इति भाव: । नयनाञ्जन-पदेन निमेषोऽप्यावयोरन्तरं न[18] कृतवानिति व्यज्यते । तेन च त्व प्रेमानभिज्ञ इति । भवानन्तर्द्धाय[19] रमणीर्गंजयतीति तव नोचितमिति रमणीरञ्जनेन[20] व्यङ्ग्यम् । तापस्य विशेषेण भञ्जनो भवांस्तापदाता जात इत्याश्चर्यमिति तापविभञ्जनेत्यनेन व्यङ्ग्यम् । सम्भवति करालेत्यादाविदं व्यङ्ग्यम्—विरहा-ग्निदग्धान्तराणामस्माकं शरीरमपि भवद्गुम्फितत्वात् त्यक्तुमशक्या सुमनोमाला दहतीति । किमु विषहे इत्यनेन प्रत्यक्षमिवाऽभिमुखीकृत्य कथनेनोन्मादावस्था व्यज्यते ।।१।।

मलयाचलपवनो विषधरवदनोपरचितगमनो दहतु कृशम् ।
कथमयमुपकारी जीवनधारी जीवनहारी भवति भृशम् ।।२।।

---

१. ख. नास्ति । २. क आत: । ३. क तुरुराज । ४. ख. स्तनूनाज्ञाप्य । ५ ख. तेश्च । ६. क. गृहित्वा । ७. क. मिलि । ८. क. अस । ९. क. विसहे । १० क. मिलिति । ११ क अर । १२. क. कोमलायेऽन्यास्पष्टम् । १३ क. वयनाथा: । १४. ख. स्वेव । १५ क. नययो० । ख. ननययो० । १६. ख. रमणी । १७. क. विरहि । १८ क. नु । १९. क. ०नंतर्द्धीय । २०. ख. रजनपदे ।

मलयाचलेति । विषधराणां सर्पाणां वदनादुपरचितं कृतं गमनं येन स मलयाचलसम्बन्धी पवनः, कृशं दुर्बलं दहतु । उपकारी अयं जीवनधारी[1], मेघः, जीवनस्य जलस्य अथवा प्राणधारणक्रियाया धारणशीलो, भृशमत्यर्थं, जीवनहारी प्राणहर्त्ता[2], कथं भवति । एतेन पूर्वभवत्संयोगानन्दपुष्टा अस्मान् दुःखदा अपि सुखयन्ति स्मेदानीं तु सुखदा अपि दुःखयन्तीति व्यज्यते । तेन च त्वत्संयोगवियोगावेव[3] सुखदुःखकारणं नाऽन्यदिति ॥२॥

यन्मुखचन्द्रचकोरौ[4] नयने ते सततम् ।
सा सहते तव विरहमहो निर्दय ! विततम् ॥३॥

यन्मुखेति । ते तव नयने यस्या मुखमेव चन्द्रस्तत्र चकोरौ, सततमभूतामिति[5] शेषः । हे निर्दय ! सा जानकी तव विततं विस्तृतं विरहते[6] इत्यहो आश्चर्यम् । तां सकृदपि न पश्यसीति भावः । एतेन सखी रघुनन्दनस्याऽतिप्रियां जानकीं मन्यते इति व्यज्यते । तेन च दुःखश्रवणादयं शीघ्रं प्रकटो भविष्यतीति तस्या अभिप्राय इति ॥३॥

हरिचन्दनघनसारस्पर्शे विरहशिखी ।
दहति रश्मिभिस्तनुं दिनेशश्चन्द्रमिषी ॥४॥

किञ्चिदुपायं कुरुतेति चेत्तत्राऽऽह—हरिचन्दनेति । हरिचन्दनघनसारयोः स्पर्शे, विरह एव शिखी वह्निः[7], तनुं दहति, किं च चन्द्रमिषी[8] चन्द्रव्याजवान्, दिनेशः सूर्यो, रश्मिभिः[9] किरणैः तनुं दहति । एतेन प्रसिद्धवह्नेर्विरहवह्नेर्वैलक्षण्यं व्यज्यते । तेन च तच्छान्त्युपायाभाव[10] इति । अत्र रूपकालङ्कारध्वनितवस्तुना[11] वस्तुध्वनिः ॥४॥

गतविग्रहवर्णा[12] च्युतमुखवर्णा[13]ऽतिबधिरकर्णा[14] तव प्रिया ।
न रसायनरक्ष्या धिक्कृतभक्ष्या[15] त्वयैव लक्ष्या गतक्रिया ॥५॥

---

१. क जीवनधारि । २. क. प्राणकर्त्ता । ३. क. संयोगवियोगावेयोगावेव ।
४. ख. जन्मुख० । ५. ख. ०मभूतामि । ६. ख. विरहं सहते । ७. ख वह्नी ।
८. ख. चन्द्रमिसी । ९. क. ख. रस्मिभिः । १०. ख. तेच्छान्त्युपाया० ।
११. क. ०ध्वनितावस्तुना । १२. १३. ख. ०वर्णं । १४. ख. कर्णं । १५. ख. ०भक्षा ।

तव प्रिया ईदृगवस्थेत्याह—गतेति । गतो विग्रहस्य शरीरस्य वर्णो[1] यस्याः सा, च्युता मुखाद् वर्णा अक्षराणि यस्याः सा, अतिबधिरौ कर्णौ यस्याः सा, गता क्रिया यस्याः सा, धिक्कृतानि तिरस्कृतानि भक्ष्यानि यया सा, ईदृशी तव प्रिया रसायनरक्ष्यां[2] न, किन्तु त्वयैव लक्ष्या द्रष्टव्या । च्युतमुखवर्णेत्यादिना जानक्या व्याधिजडतावस्थे व्यज्येते । तेन च विरहपूर्णतेति । गतविग्रहवर्णेत्यनेनाऽस्माभिर्न तथा परिचीयते इति व्यज्यते । तेन च त्वमेवाऽवलोक्य परिचिनुहीति । अतिबधिरकर्णेत्यनेन बोधयितुमशक्येति[3] व्यज्यते । न रसायनरक्ष्येत्यनेन वैद्यदर्शनानर्हता व्यज्यते ॥५।

तव नामनि कर्णे भणितेऽभ्यर्णे, तारसुवर्णे पतति चला ।
मुञ्चति निःश्वासानमितव्यासाननलनिकाशानतिविकला ॥६॥

तवेति । तारा[4] अत्युच्चाः शोभना वर्णा यस्मिंस्तस्मिंस्तव नामनि, चरमदशां ज्ञात्वा कर्णे अभ्यर्णे समीपे भणिते सति, चला सती निपतति अपि च अमितः व्यासो विस्तारो येषां तान्, अनलनिकाशान् वह्निसदृशान्,[5] निःश्वासान् मुञ्चति । अत्र पतति चलेत्यन्तेन[6] पूर्वार्द्धेन भवदागमनज्ञानभवद्दर्शने उत्थानपतनयोर्हि तु व्यज्यते । तेन च त्वदागमनमेव तस्याः जीवनोपाय इति । उत्तरार्द्धेन तदन्तःकरणं[7] भवद्विरहवह्निरिव[8] दग्धवान् । सम्प्रति तदीयभवद्विरहानलज्वालाभिः भवद्विहारवनमस्माकं शरीरं च प्रदह्यते[9] । तत्र स्थितस्य तव ईषदपि सन्तापो न भवतीत्याश्चर्यमिति[10] व्यज्यते[11] ॥६॥

ससलिलकणनलिनीदलशयनं तप्तमयः ।
भवति सुधाकरकरनिकरोऽपि हि गरलमयः ॥७॥

ससलिलेति । सलिलकणैः सहितं नलिनीदलानां शयनं, तप्तमयः सन्तप्तलोहो भवति । यथा तप्तलोहस्पर्शेनाऽङ्गानि[12] दह्यन्ते तथैवेति भावः । एतेन वह्निदाहस्य चिह्नं नश्येदपि[13], लोहदाहस्य तु नैव नश्यत्यतो[14] भवत्प्रियायाः सौन्दर्यहानिर्भविष्यतीति व्यङ्ग्यम् । तेन च शीघ्रं रक्षेति ।

---

१. ख. वरागे । २. ख. रसाधनरक्ष्या। ३. ख. मशक्येते । ४. क. तरा ।
५. ख वह्निसह० । ६. क. चलत्यतेन । ७. क. तदंतुस्करणं । ८. क. वह्निरेव ।
९. क पिदह्या.i । १० ख. भवतित्या० । ११. ख इति व्यज्यते तेन च । १२. क. ऋप्तलोह० ।
१३.. ख. मंश्येदपि । १४. ख. नयस्यतो ।

सुधाकरस्य करनिकरः किरणसमूहोऽपि, हि निश्चितं गरलमयो भवति । एतेनाऽस्माभिः कृतदाहशान्त्युपाया[1] विपरीता जाता इति । तेन चोपचारं कर्त्तुं न शक्नुम इति । तेन च यदि विषं व्याप्नुयात्तर्हि नृत्यगीतादिविस्मृत्या रासहानिर्भविष्यतीति व्यङ्ग्यम् ॥७॥

तां तनुतां तनुगतां वीक्ष्य नो हृद्भीतम् ।
पवनस्पर्शोत्पतनमालिभिर्निर्णीतम् ॥८॥

तामिति । तनुगतां, तां अनिर्वचनीयां, तनुतां कृशतां, वीक्ष्य, नोऽस्माकं हृद्भीतम् । यतः आलिभिः सखीभिः[2], पवनस्य[3] स्पर्शेन उत्पतनं निर्णीतम् । एतेन मार्गणेऽपि सा न प्राप्स्यते[4] इति व्यङ्ग्यम् । तेन च कृशताऽवधिरिति[5] ॥८॥

अपनिमिषमधीरं नयनं नीरं वहति शरीरं घर्मरसम् ।
रहयति को रामाऽधिरजनि रामाजनमिह कामातुरमनसम् ॥९॥

अपनिमिषमधीरं तस्या नयनं नीरं वहति, शरीरं घर्मरसं स्वेदं वहति । घर्मरसमित्यत्राऽयं भावः—शीतमागतमिति । अपनिमिषमधीरमित्यादिना[6] दशमावस्थापूर्वरूपो व्यज्यते । तेन च यदि सम्प्रति नाऽऽयासि, तर्हि तत्प्राप्तिर्न भविष्यतीति । रहयतीति[7]—हे राम रमणशील ! अधिरजनि रजन्यां, इह निर्जने वने, कामेनाऽऽतुरं मनो यस्य तं, रामाजनं रमणशीलं जनं को रहयति त्यजति ? त्वां विना न कोऽपीत्यर्थः । रहयतीत्यनेन एतत्पश्चादस्माकमपीमामवस्थां जानीहीति व्यज्यते । रामेत्यनेन रामा इत्यनेन च रामेति तव नाम अस्माभिः सह रमणेनैव सिद्धमिति[8] व्यज्यते । मम कोऽपराध इति चेत्तत्राऽऽह—कामातुरमनस्कतयेयमस्माकमवस्था जाताऽतस्तवाऽपराधो भविष्यतीति भावः ॥९॥

अवितप्रेमाकर दीनदयाकर ! हृदयशयां स्मर भूमिशयाम् ।
अलमधिकविरत्या त्वमिहाऽऽगत्याऽनुपरतगत्या तनुहि दयाम् ॥१०॥

---

१. ख. ०सांतुपाया । ख. २. सखिभिः । ३. ख. पवन । ४ क. प्राप्यते । ५. ख. शक्तताव० । ६. क अहनिमिषमेधीर० । ७. ख. नाऽस्ति । ८. क. सिद्धिमिति ।

अवितेति । दीनेषु दयां करोतीति तत्सम्बुद्धिः, अत एव अविता रक्षिताः प्रेम्ण आकरा[1] आश्रया येन स तत्सम्बुद्धिः, हृदयशयां तां जानकीं भूमिशयां स्मर । अधिकविरत्या अलं, न उपरतिर्विश्रामो यस्यां तया गत्या, त्वमिहाऽऽगत्य, दयां तनुहि । अवितप्रेमाकरेत्यादिना जानकीतोऽधिकः को नु प्रेमवान्, सम्प्रति कश्च दीनतरः ? तद्यदीमां न रक्षसि तर्हि भक्तवत्सल इति दीनबन्धुरिति तव नामनी यास्यत इति व्यञ्जितम् । तेन च तवाऽपि महानन्र्थो भविष्यतीति । अनुपरतगत्येत्यनेन[2] चेदाशु नाऽऽयास्यसि[3] तर्हि नेमां प्राप्स्यसीति व्यञ्जितम् । तनुहीत्यनेन भवदल्पदयया भवदागमनं न ज्ञास्यति, तस्मात् कृपाकटाक्षं विधाय दयां विस्तारय, येन सुखिता भवेदिति व्यञ्जितम् ।।११।।

दयालुता[4] तव सहजा हा हा केन हृता ।
तत्सरभसपरिरम्भणरुचिरपि कुत्र धृता ? ।।११।।

दयालुतेति । हा हेति खेदे । हे नाथ ! तव सहजा स्वाभाविकी[5] दयालुता केन[6] हृता ? तस्याः सरभसेषु[7] सवेगेषु परिरम्भणेषु रुचिः प्रीतिः अपि कुत्र धृता ? भवतेति शेषः । एतेन रघुनन्दनस्याऽऽगमनविलम्बकारिता व्यज्यते । तेन च त्वं कयाऽपि रममाणोऽसीति । दयालुतेत्यत्र भवानीदृशेऽपि खेदे स्वप्रेयस्यामस्यां दयां न करोषि, तेन ज्ञायते स्ववशीकृते जने तव[8] दयाविधानं केनचिद्धृतमिति भावः । तत्सरभसेत्यादौ परिरम्भणबहुत्वेन दयया[9] भवानागत्य वारं वारमुत्थाप्यैनामालिङ्गिष्यति, तदा सावधाना भवेद् वा न भवेदिति व्यङ्ग्यम् ।।११।।

अस्मिन् विषमे समये सुखं तु पश्य पते ! ।
विश्वनाथनाथाऽऽगमनं कुरु हे सुमते ! ।।१२।।

इति श्रीमन्महाराजकुमार[10]-श्रीविश्वनाथसिंहविरचिते संगीतरघुनंदने विरहवर्णनं नाम द्वादशस्सर्गः ।।१२।।

---

१. ख. आकारा । २. ख. अनुपरतगते० । ३. क. नायास्यति । ४. ख. दयालता । ५. क. स्वाविकी । ६. ख. के । ७. ख. ररभशेष । ८. ख. व । ९. ख. दययदा । १०. ख. श्रीमहाराजकुमार ।

आस्तां परिरम्भणमागत्य मुखमात्रमपि पश्येत्याह—अस्मिन्निति । हे पते ! अस्मिन्विषमे[1] समये मुखं तु पश्य । हे सुमते, विश्वनाथनाथ ! आगमनं कुरु । "आश्रितरक्षणं यद्धर्म[2]" इत्युक्तम्, तदास्ताम् । सम्प्रत्यागत्य मुखं तु पश्येति भावः । कविपक्षे—विश्वनाथनाथेत्यनेन कविः प्रियामुखमनवलोकमानस्य निजनाथस्य तव किं यशो वर्णयिष्यतीनि व्यज्यते । तेन चैतावताऽपि नाऽऽगमिष्यसि तदा तवाऽयशो वर्णयिष्यतीति । शिवपक्षे—यो विश्वनाथो निजप्रियायै अर्द्धाङ्गमेव दत्तवान्, तस्य परमरसिकस्य स्वामिनस्तवेयती निष्ठुरता किमुचितेति त्वमेव विचारयेति व्यज्यते । वयमेतावन्तं[3] कालमिमां जीवन्तीं ज्ञातवत्यः । सम्प्रति जीवति न वेति त्वमेव मुखमवलोक्य कथयेति सुमतेत्यनेन व्यज्यते ॥१२॥

इति सिद्धि[4]श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीरामचन्द्रकृपापात्राधिकारि-
विश्वनाथसिंहकृतायां व्यग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि
टीकायां द्वादशः[5] सर्गः ॥१२॥

[अथ त्रयोदशः सर्गः]

सत्कला स मृगराजसद्गतिः कुन्दपुष्पभसुमाल्यमण्डितः ।
दर्शनेन सुखवृन्दवर्द्धनो[6] वन्यमञ्जुलपरागपिङ्गलः ॥१॥

सत्कल[7] इति । सोऽन्तर्हितः[8] रामचन्द्रः चन्द्रमा उदियाय । कीदृश :—सत्यः कलाः चतुःषष्टिकलाः यस्य सः, चन्द्रपक्षे—सत्यः कलाः षोडशकलाः यस्य

---

१. ख. न्विषमे । २. क. यासं धर्मं । ख यंत धर्मं । ३. क. तपमेतावंत । ४. ख सिद्धः । ५. द्वादश । ६. ख. ०न्रंदवंद्धनो । ७. ख. तत्कल । ८. ख. सोंऽर्तहित ।

सः, पुनश्च मृगराजः सिंहस्तस्येव सती गतिर्यस्य, चन्द्रपक्षे—मृगराजाः मृगश्रेष्ठाः तैः सती गतिर्यस्य सः, चन्द्ररथे मृगा योजिता इति प्रसिद्धिः, पुनश्च कुन्दपुष्पाणीव[1] भानि नक्षत्राणि तेषां सुष्ठुमाल्येन मण्डितः, चन्द्रपक्षे—कुन्दपुष्पाणीव[2] भानि नक्षत्राणि तेषां माल्येन समूहेन मण्डितः शोभितः; दर्शनेन सुखवृन्दवर्द्धन[3] इत्युभयत्र समानम्, पुनश्च वन्यमञ्जुलपरागपिङ्गल;[4] चन्द्रपक्षे—वन्यः जलसम्भवः स चाऽसौ मञ्जुलपराग इव पिङ्गलश्च सः । अत्र वन्येत्यनेन कुसुमितनिकटकुञ्जे[5] निलीय स्थित इति व्यज्यते । तेन च वनितावचनश्रवणमिति ॥१॥

रामचन्द्र उदियाय चन्द्रमाः सुस्मितांशुनिकरेण तापहा ।
यं निरीक्ष्य वनितौघवारिधिः सञ्चलन्नयनदोस्तरङ्गितः ॥२॥ युग्मम् ।

पुनश्च शोभनस्मितांशुनिकरेण तापहा, चन्द्रपक्षे—सुस्मितमिव योंऽशूनां[6] निकरः समूहस्तेन तापहा, यं रघुनन्दनं निरीक्ष्य, वनितानामोघः समूह एव वारिधिः, सञ्चलद्भिर्नयनैर्दोर्भिर्भुजैश्च तरङ्गितः सञ्जाततरङ्ग आसीदिति शेषः । अयमागतोऽयमागत[7] इति परस्परं कथयन्त्यश्चञ्चलनयनबाहवोऽचला आसन्निति भावः । चन्द्रपक्षे—यं चन्द्रं निरीक्ष्य वनितौघ इव वारिधिः सञ्चलन्नयनदोष इव तरङ्गाः सञ्जाता अस्येति सः, यथा समुद्रश्चन्द्रं वीक्ष्य वृद्धिं प्राप्नोति, तथा रामचन्द्रं वीक्ष्य सखीसमूहोऽप्यानन्दं प्राप्तवानिति भावः । अत्र श्लेषानुप्राणितरूपकालङ्कारेण सखीनामाह्लादजनकत्वं तापहारकत्वं च वस्तु ध्वन्यते ॥२॥

या वियोगकृशतापरिच्युता[8] भूषणालिरखिलाङ्गके[9] पुनः ।
न स्म माति परमोदमांसले यत्नतोऽपि परिधारिता मुहुः ॥३॥

येति । या भूषणानामालिः, वियोगे कृशतया परिच्युता, सा परेणोत्कृष्टेन मोदेनाऽऽनन्देन मांसले निखिलाङ्गके मुहुर्यत्नतः[10] परिधारिताऽपि पुनर्न माति स्म न ममे[11] इत्यर्थः[12] । एतेन पूर्वसङ्गमादिदानीं रघुनन्दनदर्शनस्याऽधिकानन्दप्रदत्वं व्यज्यते । तेन च विप्रलम्भशृङ्गारस्याऽतिशयितप्रीतिजनकतेति । अत्राऽधिकालङ्कारध्वनिवस्तुना[13] वस्तुध्वनिः ॥३॥

---

१. क. कुंदपुष्पाणोपभानि । ख. कुंदपुष्पारोभानि । २. ख. कुंदपुष्पाणि च ।
३. ख. सुखदंवृंद० । ४. ख. मन्यमजुल० । ५. ख. ०कुंजि । ६. ख. योशनां ।
७. क. ०माग । ८. ख. विद्योगकशता० । ९. क. ख. ०रखलांगके । १०. ख. मुहूर्त्तयत्नतः ।
११. ख. ममा । १२. ख. वित्यर्थः । १३. क. ०लंकारध्वनित० ।

काऽपि चुचुम्ब सुरुचिरं चिबुकं चन्द्रमुखी ।
काचिदुवाच दैवदोषो मे त्वमकलुषी ॥१॥

श्रीरघुनन्दनप्राप्तौ सखीनां चेष्टां वर्णयति—काऽपीति । काऽपि चन्द्रमुखी सुरुचिरं चिबुकं तस्येति शेषः, चुचुम्ब । साधु साधु भवानेवेदृशं कर्म करोतु इत्युक्त्वा चुचुम्बेति भावः । अत्र चन्द्रमुखीत्यनेन दर्शनानन्दान्मुखप्रकाशो व्यज्यते । तेन च रघुनन्दनमुखकमलसङ्कोच इति । काचिदिति मे मम दैवस्य भाग्यस्य दोषः, यतस्तव वियोगो जातः, त्वमकलुषो निरपराध एवेति काचिदुवाच[1] । एतेन यतो भवद्विरहेण मरणान्तक्लेशो[2] जातोऽतो भवानेव कलुषीति व्यज्यते । तेन च तस्या अन्तःकोप इति ॥१॥

काचित्परिरेभे पटु रमणं मोदवती ।
काचिदबध्नान्निजपतिवसने भीतिमती ॥२॥

काचिदिति । काचिन्मोदवती रमणं श्रीरघुनन्दनं, पटु यथा तथा परिरेभे । अत्र परिरेभे इत्यनेनाऽल्पकालागतमपि[3] रघुनन्दनं चिरकालागतमिवाऽमंस्त इति व्यज्यते । तेन च प्रेमातिशय इति । अत्र ईदृशो हावभावान्वधाय[4] परिरेभे । यथैष वशीभूय क्षणमपि मां[5] न त्यजेदिति पटुपदेन तदाशयो[6] व्यज्यते । तेन च तस्या गुणगर्वितात्वमिति । काचिदिति—काचिद् भीतिमती. निजस्य पत्युश्च वसने अबध्नात्[7], एकग्रन्थ्या ग्रथितवतीत्यर्थः । एतेनाऽयं न पुनरन्यत्र गच्छेदिति तदाशयो व्यज्यते[8] । तेन च तस्या अधैर्यमिति ॥२॥

काऽपि वीणया जगौ रमणगुणमतिह्रीदम् ।
अकृत भृकुटितर्ज्जनं काचन पतिभीदम् ॥३॥

काऽपीति । काऽपि अतिह्रीदं अतिलज्जाप्रदं रघुनन्दनस्येति शेषः, रमणस्य तस्यैव गुणं, वीणया जगौ । काचनेति—काचन पत्युर्भीदं, भृकुट्या तर्ज्जनमकृत । एतेन यतस्त्वं पलायसेऽतः सर्वा वयं आवृत्य कोष्ठागारे त्वां

---

१. ख काचिदुचाल । २. क. मरणंमरणांतं । ३. क. ०नाल्पकल्पकाला० ।
४. क. ०न्विधा । ५. क. मान । ६. ख. तदाषोयो । ७. क. अवध्वात् । ख. अवन्धात् ।
८. ख. व्यज्य ।

रक्षिष्याम इति[१] व्यज्यते[२] । तेन च तस्या अतिसन्निकृष्टवर्त्तित्वमिति । काऽपीत्यादिना लज्जित रघुनन्दनं दृष्ट्वेमा मानं न[३] कुर्यु रिति[४] तदाशयो व्यज्यते । तेन च तस्याः विहारविलम्बाऽसहिष्णुत्वमिति । अतिह्रीद-मित्यत्राऽय भावः—विरहविषयकस्य[५] जानक्याः सखीनां च क्लेशस्य गानेन रघुनन्दनं लज्जितं चकारेति ।।३।।

काचिदासनेऽवदन्निषीद प्रिय ! ससुखम्[६] ।
विश्वनाथनाथोऽसि[७] कथय नः किं कलुषम् ।।४।।

काचिदिति । हे प्रिय ! ससुखं[८] यथा तथा आसने निषीद । त्वं त्रिश्वनाथोऽसि, अतः कथय[९], नोऽस्माकं किं कलुषमिति काचिदवदत् । अत्र कथयेत्यनेन स्वापराधं[१०] वयं न विद्म इति व्यज्यते । तेन च शरीरान्तसम-क्लेशरूपप्रायश्चित्तकारयिता[११] त्वमेव जानासीति कटाक्षयतीति ।।४।।

अविदितविरहजपीडा पुरेयमन्तर्द्धिमागता[१२] सीता ।
तामिह वेदयितुं तामहमप्यन्तर्हितोऽभूवम् ।।१।।

इमा ममोपर्यपराधं स्थापयित्वा मन्मुखेनैव विकथयिष्यन्तीति विज्ञाय परमप्रवीणो रघुनन्दन उत्तरयति—अविदितेति । न विदिता विरहजा पीडा यया सा इयं सीता, पुरा अन्तर्द्धिमन्तर्द्धानं आगता प्राप्ता । अतोऽहमपि तां सीतां तां तादृशीं पीडां[१३] वेदयितुमन्तर्हितोऽभूवम् । एतेन यथेमां पीडां स्मृत्वा कदाचिदपि पुनर्नाऽन्तर्दध्यादिति[१४] व्यज्यते । तेन चाऽहमपि नाऽन्तर्हितो भविष्यामीति[१५] ।।१।।

मा वोचत[१६] मा किमपि प्रियं[१७] प्रिया ! जातमेव यज्ज्ञातम् ।
सस्मितमुत्तरयित्वा सखीरिति[१८] प्राह जानकीं रामः ।।२।।

---

१. ख. नाऽस्ति । २. ख. विज्यते । ३. क. द । ४. क. ख कुर्य्यरिति ।
५. क. ०विषकस्य । ६. क. सुखम् । ७. ख. विश्वनाथोऽसि । ८. ख सुखं । ९. क. कथ ।
१०. क स्वापरां । ११. ख. त्रयाशरीरांतशमक्लेशरूपप्रायश्चित्तकारयित्वा ।
१२. ख. मागत । १३. ख. नाऽस्ति । १४ क. ख. पुर्नांतर्दध्यादिति ।
१५. क भविष्यामिति । १६. ख. योंवत । १७. क. नाऽस्ति । १८. ख. रसखी० ।

तां प्रसादयितुं[1] पुनराह—मा वोचतेति । हे प्रियाः । प्रियं मां किमपि मा वोचत मद्वचनस्योत्तरं न कथयत, यज्जातं तज्जातमेव सखीरिति सस्मितमुत्तरयित्वा, रामः जानकीं प्राह । प्रियमितिपदेन यो यस्याः प्रियो भवति सा तस्याऽपराधमपि गुणतया गणयतीति व्यज्यते । [तेन च अपराधकथन-मनुचितमिति । सस्मितमित्यनेन निजस्मितसुधया तासामनुतापमपि विस्मा-रितवानिति व्यज्यते][2] ॥२॥

प्रिये ! पश्य[3] सरयूरिह विलसति कोमलशैवलकमला ।
ललितकाकलीकलितखगालीसङ्कुलालिकुलकमला ॥१॥

अथ सरयूं वर्णयन् जलविहारोत्साहं वर्द्धयति—प्रिये पश्येति । हे प्रिये ! त्वं पश्य, कोमलः शैवलो यस्मिंस्तत्कमलं जलं यस्यां सा, सरयूरिह विलसति । कीदृशी सरयूः—ललितया काकल्या सूक्ष्ममधुराव्यक्तध्वनिना कलितानि युक्तानि खगानामालिः[4] पङ्क्तिः तया सङ्कुलानि व्याप्तानि च अलीनां भ्रमराणां कुलानि येषु तानि कमलानि यस्यां सा । अत्र पक्षिणां विहारेण[5] मकरादिदुष्टजीवभयं नाऽस्तीति व्यज्यते । अत्र भ्रमरसमूहशब्देन न कमलाना-मीषद्विकसितत्वं । व्यज्यते, तेन च प्रातः समय[6] इति । अत्र सरयूविहाररूप-वाच्यस्य[7] सकलविशेषणप्रतिपाद्यतया वैशिष्टये न[8] वस्तुना वस्तुध्वनिः ॥१॥

प्रचुरपरागपूरपरिपूरितकटिमितसलिलसुललिता[9] ।
मिलितमीनमीनाङ्ककेतुसमतुङ्गतरङ्गतरलिता ॥२॥

प्रचुरपरागेति । प्रचुरस्य परागस्य पूरेण परिपूरितेन कटिमितेन[10] सलिलेन सुललिता, मिलिता मीना येषु ते अत एव मीनाङ्कः कामस्तस्य केतुना समास्तुल्या ये तुङ्गास्तरङ्गास्तैस्तरलिता चपलेत्यर्थः । प्रचुरेत्यादिना जले सौगन्ध्यं व्यज्यते । कटिमितेत्यादिना निमज्जनशङ्काऽभावो व्यज्यते । तेन च विहारयोग्यतेति । तुङ्गतरङ्गेत्यादिना तत्र कामोद्दीपनं भवतीति व्यज्यते । अत्रोपमालङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥२॥

---

१. ख प्रसादयतुं । २. [—] कोष्ठान्तर्गतोंऽशो नाऽस्ति ख. पुस्तके । ३. ख. यस्य । ४. क. खगामालिः । ५. ख. विहारे । ६. क. प्राहः समय । ७. क. ०विहाररूपाच्यस्य । ८ ख वैशिष्टेन । ९. ख. ०परागपूरपरित० । १०. ख. सकटिमिते ।

कुमुदवृन्दमकरन्दविशदबहुबिन्दुचारुचन्द्रकिता[1] ।
अनिलसमाकुलकूललताकुलकुसुमावलिपरिकलिता ।।३।।

कुमुदेति । कुमुदवृन्दमकरन्दस्य[2] विशदैर्बहुभिर्बिन्दुभिश्चारु[3] सम्यक् चन्द्रकिता[4] सञ्जातचन्द्रकेत्यर्थः । अनिलेति—अनिलेन समाकुलानां कूललता-कुलानां कुसुमावलिभिः परिकलिता व्याप्ता । कुसुमवृन्देत्यादिपदेन[5] मकरन्द-बिन्दुपातात् कुमुदानामर्द्धनिमीलनं व्यज्यते । कमलकुमुदयोरर्द्धोन्मीलननिमीलनाभ्यां रात्रिदिनसन्धौ द्वयोरपि[6] समा शोभा व्यञ्जिता । तया च रात्रिन्दिवशोभातोऽधिका[7] प्रातःशोभा व्यञ्जिता । अनिलेत्यादौ तीरस्थतरुलता अपि शोभातिशयं दर्शं दर्शं पुष्पाञ्जलिमिव ददतीति व्यङ्ग्यम् । अत्र वस्तुनोत्प्रेक्षालङ्कारध्वनिः । कूललताकुलेत्यादिना दिवाऽपि विहारयोग्यता व्यञ्जिता ।।३।।

तव नाभीसुषमानुकरणकरललितावर्त्तविशाला ।
विश्वनाथमानसपरिषेवितसुमणितीर्थरुचिशाला ।।४।।

तवेति । तव नाभीसुषमाया अनुकरणकरैर्ललितैरावर्त्तैर्विशाला, विश्वनाथस्य मानसेन परिषेविता सा चासौ सुमणितीर्थरुचीनां शालेव शाला च सा । नाभीत्यादिनाऽऽवर्त्तानां लघुता गम्भीरता च व्यज्यते । अत्र प्रतीपालङ्कारेण वस्तुध्वनिः । सुमणितीर्थरुचिशालेति पदेन उभयतटघटितमणि-जटितघट्टरोचिश्छटा[8] व्यज्यते । तेन च रात्रावपि[9] विहारयोग्यता व्यञ्जिता ।।४।।

उडुगणखग[पा]लीतालिका[10] यत्करालो,
घनहिमकणपालीमौक्तिकालीमराली ।
विधुकिरणमृणालीभक्षणोद्यद्गजाली[11],
तिमिरमहिषकालो सोऽभ्युदेत्यंशुमाली ।।१।।

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते संगीतरघुनंदने प्रादुर्भूतरघुनंदनकर्तृकसरय्वूवर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ।।१३।।

---

१. ख कुमुदघंट० । २. क. कुदवृंद० । ३. क. ०विन्दुर्भिविंदुभिश्चारु । ४. क. चंद्रकिका ।
५. क कुसुमवृंदे० । ६. क. रूयोरपि । ७. ख. रात्रेदिव० । ८. ख. उभयतर० ।
९. ख रात्राव । १०. क. उडुगणखपाली० । ख. उडुगणखगाली० ।
११. क. ०किरणमृणली० ।

उडुगणेति[१]। 'यस्य कराणां आली पङ्क्तिः[२], उडूनां नक्षत्राणां गण एव खगानां माला[३] पङ्क्तिस्तस्यास्तालिका, यथा तालीवादनेन खगा उड्डीयन्ते तथा किरणैर्नक्षत्राणीति भावः। घनानां निविडानां हिमकणानां पाल्येव मौक्तिकाली तस्या मराली, यथा हंसी मौक्तिकानि कवलयति तथैवेयं हिमकणानीति भावः। विधुकिरणा एव मृणाल्यस्तासां भक्षणायोद्यन्ती[४] गजाली गजपङ्क्तिः, तिमिरमेव महिषः तस्य काली दुर्गा ईदृशी, यस्य कराणां किरणानां माली स अंशुमाली सूर्यः अभ्युदेति। एतेन स्नानसमयो व्यज्यते। तेन च विलम्बो न कार्य इति।

इति सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराज[५]-श्रीविश्वनाथसिंहकृतायां
व्यंग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि[६] टीकायां त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

[अथ चतुर्द्दशः सर्गः]

सहचरीसमुदायसमन्वितः,
शयसरोजगृहीतधरासुतः।
सुखदसारववारि विगाहितुम्,
प्रचलति स्म ततो रघुनन्दनः ॥१॥

सहचरीति। शयसरोजेन करकमलेन गृहीता धरासुता जानकी येन सः, सुखदं सरव्वा इदं सारवं तच्च वारि च तत्। अत्र शयसरोजेत्यादिना जलविहारे जानक्या निषेधवचनं व्यज्यते। तेन च तस्या भीतात्वम्[७], तेन च मुग्धात्वम्, तेन च रघुनन्दनानन्दजनकभावग्राहिकात्वमिति ॥१॥

---

१. क. तदुगणेति। २. '—' अयमंशः ख. पुस्तके नाऽस्ति। ३. ख. पाली।
४ क. भक्षणायोपंती। ख. भक्षणांपोषती। ५. ख. सिद्धिः श्रीमहाराजाधिराज।
६. ख. ०नाम। ७. क. भीतत्वम्।

सरयूजले जानकीजानिः,
विहरति रमणीगणकृतरतिरिह,
सवधुसिन्धुरुचिहानिः ।।१।।

सरयूजले इति । रमणीगणे कृता रतिर्येन सः । अनेन रघुनन्दनस्य सर्वत्र प्रेमवत्ता व्यज्यते । तेन च दक्षिणनायकतेति । जानकीजानिरित्यनेन रघुनन्दनस्य जानक्यामधिकप्रेमेति[1] व्यज्यते । तेन चाऽनुकूलनायकतेति । सवधोर्वधूसहितस्य[2] सिन्धोः रुचेः शोभायाः हानिर्यस्मात्सः, यस्य शोभां निरीक्ष्य तादृशः समुद्रो मलिनो भवतीति भावः ।।१।।

लक्षितकायविलक्षितललनाकौतुकविहसितवदनः[3] ।
कृतचुम्बनपरिरम्भणरञ्जनरमणीसमुदितमदनः ।।२।।

लक्षितेति । लक्षितो दृष्टः कायो यासां ताः, एतेन आर्द्रसूक्ष्मपटवतीत्वं व्यज्यते[4] । अत एव विलक्षिता लज्जिता या ललनास्तासां कौतुकेन विहसितं वदनं यस्य सः, कृतानि चुम्बनपरिरम्भणरञ्जनानि यासां ताश्च ताः रमण्यश्च तास्तासु समुदितः सम्यगुद्दीपितो मदनो येन सः । अत्र कौतुकपदेन वारं वारं कमलैर्गोप्यमानान्यप्यङ्गानि गुप्तानि न भवन्तीति व्यज्यते । तेन च रघुनन्दनस्य रसाधिक्यमिति । अत्र ग्रन्थे मदनपदेन रघुनन्दनविषयकसखीसम्बन्धिप्रेमा विवक्षितः । तथा चोक्तं *भक्तिरसामृतसिन्धौ* "*प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथामिति*" । अथवा यथा साकेते सकलसामग्री सच्चिदानन्दरूपा तथा कामोऽप्यन्य इति । रमणीसमुदितमदन इत्यनेन सम्भोगाभावो व्यज्यते । तेन च धर्मशास्त्रज्ञत्वम्, तेन च रघुनन्दनस्य धैर्यातिशय इति[5] ।।२।।

कुचकुङ्कुमकस्तूरीकर्द्दमकलितकलेवरलसितः ।
जलधरसमये येन धातुयुतमरकतशैलो हसितः ।।३।।

कुचकुङ्कुमेति । कुचस्य कुङ्कुमकस्तूर्योः कर्द्दमेन कलितं युक्तं यत्कलेवरं तेन लसितः शोभितः, अत एव येन जलधरसमये वर्षाकाले धातुभिर्गैरिकादिभिर्युतः स चाऽसौ मरकतशैलश्च सः हसितो भवतीति शेषः । अत्र

१. ख. जानक्यामधिक । २. क. सवेधोर्वधू० । ख. सवद्योर्वद्य० । ३. ख. ०विहसतिवदनः । ४. ख. मम्यते । ५. ख. नाऽस्ति ।

मरकतशैलेत्यादिना रघुनन्दनस्य निश्चलता व्यज्यते। तेन च चुम्बनादिजन्यः स्तम्भ इति। अत्र प्रतीपालङ्कारध्वनितवस्तुध्वनिः[1] ॥३॥

कुण्डलसमललनालिमण्डितो[2] घन इव[3] चपलामालः।
विश्वनाथनाथोऽतिकौतुकं कुरुते परमविशालः[4] ॥४॥

कुण्डलसमेति। चपलाया माला यस्य, तादृशघन इव, कुण्डलसमया ललनाल्या[5] मण्डितः सखीमण्डलमध्यस्थित इति यावत्, परमविशालो विश्वनाथ-नाथोऽतिकौतुकं कुरुते। अत्र चपलोपमया क्रीडन्त्यः सख्यः उच्छलन्तीभिर्ल-हरीभिः कदाचिदाछाद्यन्ते, कदाचिद्दृश्यन्ते इति व्यज्यते। अत्रोपमालङ्कारेण वस्तुध्वनिः। कुण्डलेत्यादिना पलायितो मा भूदावृत्य जेष्याम इति सखीना-माशयो व्यज्यते। तेन रघुनन्दनोपरि परितो जलसेचनमिति ॥४॥

निर्गत्याऽथ प्रवाहादभिनववसनैर्भूषणैरङ्गरागै-
रात्मान भूषयित्वा निजरुचिपटलोद्भासिताशान्तराले।
स्थित्वा सिंहासने तौ तटभुवि निहिते सादरं मोदमाना-
वन्योन्यालोकलीलारसमनुभवतो जानकीरामचन्द्रौ ॥१॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार[6]—श्रीविश्वनाथसिंहविरचिते संगीतरघुनंदने सरजूतद्विहारवर्णनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

निर्गत्येति। अथ जलक्रीडानन्तरं जानकीरामचन्द्रौ प्रवाहान्निर्गत्य,[7] अभिनववसनैर्भूषणैरङ्गरागैश्चाऽऽत्मानं भूषयित्वा, तटभुवि निहिते, निजरुचिपटलेनोद्भासितं आशानां दिशामन्तरालं मध्यं येन तत् तस्मिन्, सिंहासने स्थित्वा, मोदमानौ अन्योन्यालोकलीलारसं सादरं यथा तथा अनुभवतः। निजरुचीत्यादिना सिंहासनं स्वरोचिश्छटाभिरुदितसूर्यप्रकाशं मन्दयतीति व्यज्यते। तेन च सिंहासनस्याऽलौकिकतेति। १॥

[इति सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंहकृतायां व्यङ्ग्यार्थ-चन्द्रिकानाम्नि टीकायां चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥][8]

———

१. ख ०ध्वनितवस्तुना वस्तुध्वनिः। २ ख. कुण्डलनामासमललनालियमण्डितो।
३. ख नाऽस्ति। ४. ख. ०विशाला। ५. ख. ललनानामाल्या। ६. ख श्रीमहाराजकुमार।
७ ख. प्रवाहनिर्गत्य। ८. [—] प्रथमंशः ख. पुस्तके नाऽस्ति।

[अथ पञ्चदशः सर्गः]

उत्थाय रामो जनकात्मजायाः,
पाणिं गृहीत्वा परमादरेण[1] ।
शुभ्रातपत्रेण विरोचमानो,
निकेतनप्राङ्गणमाजगाम ।।१।।

उत्थायेति स्पष्टम् । अत्र प्रातःकाले आतपत्रदानेन रघुनन्दनस्य बालसूर्यस्याऽपि किरणासहिष्णुत्वं[2] व्यज्यते । 'तेन च सुकुमारतातिशय इति'[3] । विरोचमान इत्यत्र श्वेतमणिजटितच्छत्रे पतिताभिः सूर्यकिरणच्छटाभिर्मिलिताः श्रीजानकीरघुनन्दनयोरनेकवर्णमणिभूषणापूर्वरोचिश्छटाः[4] परितः प्रसरन्तीति भावः ।।१।।

कल्पतरुतले कमनीयमन्दिरं[5] वह्निरविचन्द्रैरावृतम्[6] ।
स्वर्णमयवेदिकं सर्वतः[7] सर्वतः सेन्दिरम् ।।१।।[8]

[कल्पतरुतलेति । स्वर्णमयी वेदिका यस्मिंस्तत्, वह्निरविचन्द्रैरावृतम्,[9] प्रथममावरणं वह्निमण्डलस्य, द्वितीयं सूर्यमण्डलस्य, तृतीयं चन्द्रमण्डलस्य, सर्वतः सेन्दिरं इन्दिरा शोभा तया सहितम्, कमनीयं[10] मन्दिरं कल्पतरुतले वर्त्तते । वह्नीत्यादिपदेनैव[11] वक्ष्यमाणरासो रामबीजान्तर्गत[12] इति व्यज्यते । तेन चाऽस्याऽतिगुप्ततेति[13] ।।१।।][14]

ललितसकलोपकरणे[15] संशोभिते तत्र सिंहासने[16] परमरम्यौ ।
रेजतुर्जानकीजानकीनायकौ[17] विश्वनाथार्चितौ भावगम्यौ ।।२।।

ललितेति । ललितेन सकलोपकरणेन छत्रचामरव्यजनासनादिसामग्र्या संशोभिते, तत्र मन्दिरे, भावगम्यौ भावेन भावनया गम्यौ प्राप्यौ, विश्वनाथेन अर्चितौ पूजितौ, परमरम्यौ जानकीजानकीनायकौ[18] सिंहासने रेजतुः[19] । भावगम्यावित्यनेन येऽत्रैवं वर्णितभावनया सर्वदा ध्यायन्ति त एवैवम्भूतं

---

१. क. परमासरेण । ख. परमादरे । २. ख. किरणसहिष्णुत्वं । ३. '—' अंशस्याऽस्याऽभावः क. पुस्तके । ४. क. ०मणिभूषणाः पूर्वं० । ५. ख. कमनीमतमंदिरं । ६. ख. रविचन्दिरै० । ७. ख. सर्वतंत । ८. पद्यमिदं नाऽस्ति क पुस्तके । ९. ख. ०रविचंद्ररैरावृतम् । १०. ख. कमनीयत । ११. ख. ०पदेनैवं । १२. ख. रामवोजान्तर्गत । १३ ख. ०गुप्तेति । १४. [—] कोष्ठकान्तर्गतोंऽशो न विद्यते क. पुस्तके । १५. क. सकलोपकरण । १६. ख. हिंसासने । १७. ख. हेजतुर्जानकीनायकौ । १८. क. ०रायकौ । १९. ख. जतुः ।

रघुनन्दनं प्राप्नुवन्तीति व्यज्यते । तेन च तत्राऽयं ग्रन्थोऽन्तरङ्गोपासनाप्रद इति ॥२॥

अथ निजपरमागारे विकसितकमलालयाकारे ।
रामो रासविधान मुदा सखीभिः समातनुत[1] ॥१॥

तत्र[2] मन्दिरेति[3] भावनायोग्यं रासं विस्तरेण दर्शयन्नाऽऽह—अथेति । अथेति नित्यरासवर्णने मङ्गलार्थः । रामः विकसितस्य कमलालयस्य कमलस्येवाऽऽकारो[4] यस्य तत्र, निजपरमागारे, सदा सखीभिः साकं रासविधानं समातनुत । अत्र कमलालयेत्यादिना मन्दिरस्य यन्त्ररूपता व्यज्यते । तेन च तत्र स्थितानां बीजरूपतेति ॥१॥

सीतासमेतप्रियरासलीलावलोकनानन्दभरालसाङ्गी ।
नामानि कासाञ्चिदुदाहरन्ती काचित्सखी कामपि सञ्जगाद ॥२॥

सीतासमेतेति स्पष्टम् । एतेनेमे सख्यौ रासदर्शनार्थं बहिर्निस्सृते इति व्यज्यते । तेन च रासकरणानन्दाद् रासदर्शनानन्दस्याऽऽधिक्यमिति[5] ॥२॥

विहरति सीतारामो मध्ये सखीनयनविश्रामः । ध्रुवपदम्[6] ।

विहरतीति । सखीनां नयनयोर्विश्रामो यस्मिन् सः, सीतया सहितो रामः, मध्ये विहरति । तथा नृत्यति यथा सकलसख्यः सम्मुखमेव तं पश्यन्तीति[7] [सखीत्यादिपदेन व्यज्यते । तेन च नृत्यचमत्कार इति][8] ।

इह वर्त्तुले पद्मा १ च सेव्या २ ऽथो सुकेशी ३ सहजया ४ ।
'तारा ५ वीराङ्गानुजा ६ च कमला ७ तथा कमलालया ८'[9] ॥१॥

+इह वर्त्तुले कर्णिकामध्ये मण्डले अष्टसख्यः । सहजयेति सहार्थे तृतीया ॥१॥ +[10]

---

१. ख. समातनुते । २. ख. रति । ३. क. मंदि । ४. क. कसकलस्येवाकरो ।
५. क ०धिक्यमि । ६. ख. ध्रुपदम् । ७. ख. पश्यं । ८. [—] अस्यांऽशस्याऽभावः ख. पुस्तके । ९. '—' श्लोकार्द्धमिदं क. पुस्तके नाऽस्ति । १० +-+ चिह्नान्तर्गतांशस्थाने ख पुस्तकेऽयमंशो लभ्यते—'कामध्यमंडले अष्टसख्यः सहजयेतीति सखीत्यादिपदेन व्यज्यते । तेन च नृत्यचमत्कार इति । इह वर्त्तुलेऽकस्मि सहार्थे तृतीया' ।

सखी केसरेषूर्वशी[1] १ रम्भा २ मेनका ३ मृगलोचना ४ ।
चन्द्रावली ५ कर्पूरगन्धा ६ कलरवा ७ वरलोचना ८ ।।२।।

क्षेमा ९ च हेमा १० वरारोहा ११ पद्मगन्धा १२ गालिनी १३ ।
सुरतोत्सवा १४ हरिणी १५ कमलिनी १६ रमा १७ राधा १८
हंसिनी १९ ।।३।।

केसरेष्वेकोनविंशतिसख्यः ।।२।।३।।

षोडशसु दलेषु[2] नृत्यति पद्महस्ता१ वृन्दया२
सुप्रेयसी३ च मनोरमा४ विमला५ सुनयना६ नित्यया७ ।।४।।

असिता८ सिता९ शुकसम्भवा१० हरिवल्लभा११ सुविशारदा१२ ।
पुनरुमा१३ प्रकृति१४ र्महामाया१५ वेदजातिविशारदा[3]१६ ।।५।।

सख्युपदलेषु[4] द्वादशालीमण्डली विलसति नता ।
क्षीरोद्भवा१ ऽपि च भद्ररूपा२ भद्रदा[5] विद्युल्लता४ ।।६।।

सखिचारुशीला५ चारुरूपा६ सती७ हंससुगामिनी८ ।
वरपद्मरेखा९ प्रेमदा१० सुस्मिता११ कुङ्कुमगन्धिनी१२ ।।७।।

षोडशदले शोभना१ शुभदा२ सुस्मिता३ शान्ता४ धरा५ ।
सन्तोषिका[6]६ सुखदा७ सुवर्णा८ क्षेमदा[7]९ क्षेमा१० परा ।।८।।

इह चारुदेहा११ रुचिररूपा१२ चारुदृक्१३ सुरसोत्सुका१४ ।
धात्री१५ सुधोरा१६ कमलमध्यस्थानगा रासोत्सुकाः ।।९।।

वृन्दयेत्यत्र नित्ययेत्यत्र च सहार्थे तृतीया ।।।४।।५।।६।।७।।८।।९।।

उपदले रति १-रपि नति २-मती ३ कुशला ४ तथैव च मेदिनी५ ।
माल्या ६ महार्हा ७ माधवी ८ कामदा ९ कामविमोहिनी १०।।१०।।

लीलाकला ११ प्रेमप्रदा[8] १२ षोडशसु कर्पूराङ्गिका[9] १ ।
वरसुधामुख्यु २-ज्ज्वला ३ कनका ४ सुरभि ५-रपि चित्राङ्गिका ६।।११।।

---

१. ख. ०सुर्वशी । २. ख. तत्र दलेषु ३. क. वेदजातिविशादा । ४. क. सख्युपदेषु
५. क. भद्रपा । ६. ख. सांतोषिका । ७. क. क्षमदा । ८ ख. प्रेमदा ।
९. ख. कपूरांगका ।

शशिमुखी ७ हंसी ८ वरश्रोणी[1] ६ चित्ररेखा १० शशिकला[2] १२ ।
विशदाक्षिका १२ शुभदन्तिका १३ माधुर्य्यका१४ च वरो१५ त्पला१६ ।।१२।।

तदनन्तरं शतसखीमण्डलमस्ति तदुपरि दशशतम् ।
अयुतं ततस्तदनन्तरं पुनरथो[3] लक्षं सन्ततम् ।।१३।।

पुनरालिनियुतं भाति विनतं कोटिरपि तदनन्तरम् ।
दशकोटिशो विलसन्ति सख्यो दिग्विदिक्षु निरन्तरम् ।।१४।।

नतिमत्योर्द्वन्द्व : ।।१०।।११।।१२।।१३।।१४।।

सव्यजनचामरकादिसकलवरोपकरणलसत्कराः ।
वीणामृदङ्गोपाङ्गतोयतरङ्गवादनतत्पराः[4] ।।१५।।

गायन्ति[5] गीतमनुत्तमं विहितेतरेतरमोहनम्[6] ।
सङ्गीतकं नृत्यन्ति सकला[7] विश्वनाथविनोदनम् ।।१६।।

इति श्रीमन्महाराजकुमार-श्रीविश्वनाथसिंहकृते संगीतरघुनंदने
'सखीस्थितिनाम सख्यावर्णनं नाम'[8] पंचदशः सर्गः ।।१५।।

सव्यजनचामरकादिभिः[9] सकलैर्वरैः श्रेष्ठैरुपकरणैर्लसन्तः करा यासां ताः, वीणामृदङ्गोपाङ्गतोयतरङ्गानां[10] वादने[11] तत्पराः, एताः सकलाः सख्यः, विश्वनाथस्य श्रीरघुनन्दनस्य विनोदनं[12] विनोदजनकं उत्तमं गीतं, विहितमितरेतरमोहनं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा, गायन्ति[13], सङ्गीतकं च नृत्यन्ति ।।१५।।१६।।

इति श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीरामचन्द्रकृपापात्राधिकारिविश्वनाथसिंह-कृतायां[14] व्यंग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि[15] टीकायां पंचदशः[16]सर्गः ।।१५।।

———

१. ख. वरश्रो । २. ख कृशिकला । ३. ख. पुनथो । ४. ख. ०पाङ्गतोद्यतरङ्ग० ।
५. क. गायंती । ६. क विहितेसरेतर० । ७. क. कलां ।
८. '—' ख. सखीस्थितिनामटीकायां । ६. ख. शद्ब तनकचामरकादिभिः ।
१०. क. ०नरंगात्वां । ११. क. वाव । १२. क. नास्ति । १३. क गायन्ती ।
१४. ख. श्रीमहाराजाधिराज० । १५. ख. ०नाम । १६. ख. पंचदशो ।

[अथ षोडशः सर्गः]

विधिहरिहरमुनिवरमानससञ्चारिन्, !
परतररघुवरचरितसुधारिन् !

रासरसिकसच्चेतोहारिन्[1] !
मदुरश्चन्दन सङ्गीतरघुनन्दन ! त्वामह नीराजयामि ।

अतिदुस्तरदुःखाकरभवसागरतारिन् !,
सततप्रेमसुरूपोद्गारिन्नुज्ज्वलरसविस्तारिन्[2] ! ।

रघुपतिमतिकारिन्नमलयशःप्रसारिन् !,
श्रोतृश्रवणसुधाधारासन्धारिन् ! ।।

शमनभवनगमनहरणपणधारिन् !
भीतिविभञ्जन[3] सज्जनरञ्जन हृतमायाञ्जन !
कुत्सितगुणगञ्जन सद्गुणगोवर्द्धन[4] भूतिविवर्द्धन ! त्वामहं प्रणमामि ।

टीका—विधिहरीति । विधिहरिहरमुनिवराणां मानसे सञ्चरणशील, परतररघुवरचरितस्य धारणशील, रासरसिकानां सच्चेतो हरणशील, ममोरसश्चन्दन, चन्दनवत्सन्तापहरेत्यर्थः;[5] एवम्भूत हे सङ्गीतरघुनन्दन ! त्वामहं नीराजयामि । अथ परमविशेषणेनाऽस्य[6] रघुनन्दनसमानरूपता व्यञ्जिता । तेन च सर्वोत्कृष्टतेति । अतिदुस्तरो दुःखानामाकरो[7] यो भवसागरस्तं तारयतीति तत्सम्बुद्धिः, सततं प्रेम्णः सुपूरमुद्गिरतीति[8] तत्सम्बुद्धिः, रघुपतौ मतिं कारयतीति तत्सम्बुद्धिः, श्रोतॄणां श्रवणयोः[9] सुधाधारां सन्धरतीति तत्सम्बुद्धिः । श्रोतृश्रवणेत्यादिविशेषणेनाऽस्याऽतिमाधुर्य्यं व्यज्यते । हृतं मायैवाऽञ्जनं येन[10] तत्सम्बुद्धिः, सद्गुणा एव गावस्ता वर्द्धयतीति तत्सम्बुद्धिः, यथा गोवर्द्धनः पर्वतो गा वर्द्धितवांस्तथैवेति भावः । शेषं स्पष्टम् । अतिदुस्तरेत्यादिविशेषणैरिहाऽमुत्र चाऽस्य सुखदातृत्वं व्यज्यते । तेन चाऽवश्यधारणयोग्यतेति ।

---

१. ख. ॰सुच्चेतोहारिन् । २. ख. ॰विस्तारन् । ३. ख. भीतविभंजन । ४. क. सगुणवर्द्धन । ५. ख. चन्दवत्॰ । ६. ख. प्रथमविशेषणे॰ । ७. ख. ॰माकारो । ८. ख. स्पुररमुद्गि । ९. ख. श्रवण । १०. क. वेन ।

रासप्रतिपादक[1] पञ्चपापबाधक[2] सकलसिद्धिसाधक रसिकशिरोमणि-मादकनृत्यगीतनादक सकलसत्कर्मभगवद्धर्मशर्मकर[3] नर्मसञ्चरण जननमरणहरण सुमतिभरण हावभावविस्तारण जनशरणचरण[4] वर्णवर्णदुरितदरण[5] सकल-लीलाभरण शिवशुकस्मरण[6] महामोहान्धतमसो[7] हरणे तरणे[8] साकेतपरमसरणे निगमागमसिद्धान्तशिरोमणे शमदमयमनियमादिफलचतुर्वर्गफलितकल्पतरो ! त्वा-महं[9] भावयामि ।

टीका—रासेति । पञ्चपापानि[10] ब्रह्महत्यादीनि बाधयतीति तत्सम्बुद्धिः, सकलानां सतां कर्मणां च भगवतो धर्माणां च शर्मणां च कर कारकेत्यर्थः । नर्मणां जानकीरघुनन्दनयोरेकान्तरहस्यानां[11] सञ्चरणं प्रचारो यस्मात् स तत्सम्बुद्धिः, जननमरणे[12] हरतीति, सुमतिं बिभर्त्ति पुष्णातीति, हावा लीलाविलासादयस्तेषां[13] भावं भावनां विस्तृणातीति, जनानां शरणं रक्षकं चरणं पद्यचतुर्थांशो यस्य तत्सम्बुद्धिः, वर्णानां ब्राह्मणादीनां वर्णैरक्षरैर्दुरितं दृणाति विदारयतीति, सकलानां लीलानामाभरण भूषणस्वरूप, शिवशुकयोः स्म-रण जानकीरघुनन्दनचिन्तनस्वरूप, महामोह[14] एवाऽन्धतमः[15] तस्य हरणं नाशनं तत्र, तरणे[16] सूर्य्य, साकेतस्य परमसरणे उत्कृष्टमार्गस्वरूप, निगमा वेदा आगमाः शास्त्राणि तेषां सिद्धान्तशिरोमणे, तत्परमसिद्धान्तेत्यर्थः । एतेन सर्वं[17] त्यक्त्वा त्वमेव भावनीय इति व्यज्यते । तेन चैतदल्पायास[18] महाफलमिति । चतुर्वर्गै-रर्थधर्मकाममोक्षैः फलितः स चाऽसौ कल्पतरुश्च तत्सम्बुद्धिः[19] ।

विश्वनाथमानससरोजनिःसृतछन्दःकोकनदव्यङ्ग्यमकरन्दमिश्रित[20] राग-रससम्भृत तालशैवालवलित तानतरङ्गोच्छलित मूर्च्छनामीनसङ्कुलित सप्तस्वरा-वर्त्तकलित[21] श्रुतिमरालकुलाकुलित लघुगुरुप्लुतादिभेदपुलिनोज्ज्वलित ज्ञानकर्म-कूलदलनोल्लसित[22] विविधवाद्यगतिकुमुदिनीदलहरित[23] लयसत्त्वरितसच्छ्रवण-सागरमिलितसीतारामचरितचलितसरिद्रूप ! त्वामहं गायामि ।

---

१. क. ०प्रतिपादकं । २. क. ०पापाबाधक । ३. क. सकलसत्कूर्मं० । ४. ख. जननशरण० । ५. क. वर्णे वर्णा० । ६. क. शिस्मरण । ७. ख महामोहान्धतमस । ८ क तरे । ९. क. महं । १० क. ०पापीनि । ११. ख. ०नन्दनयोयेकान्त० । १२ क. जन्ममरणे । १३. क. लीलासादय० । १४ क. महामह । १५. क. एवांधतसमसं । ख. एवांधतम्सं । १६. ख. तरणं हि । १७. क. सेत । १८. ख. चैतदरालपालयायासं । १९. क तसंबुद्धिः । २०. क. ०व्यंगममरंद० । ख. व्यंगमकरंद । २१. ख. सप्तसुरावर्त्त० । २२. क. ०कूलदमनो० । २३. क तलयसंत्वरितसच्छ्रावनचलि······तसरद्रूप ।

टीका—विश्वनाथेति । विश्वनाथः शिवः कविर्वा, तस्य मानसमेव सरस्तस्मान्निःसृतछन्दांस्येव कोकनदानि रक्तकमलानि व्यङ्ग्यार्थ एव मकरन्दस्तैर्मिश्रितः, रागा भैरवादयस्त एव रसाः जलानि तैः सम्भृतः, ताला एव शैवालानि तैर्वलितः युक्तः, ताना एव तरङ्गास्तैरुच्छलितः, मूर्च्छना[1] एव मीनास्तैः सङ्कुलितः, सप्तस्वरा एवाऽऽवर्त्तास्तैः[2] कलितः, श्रुतयो द्वाविंशतिः सङ्गीतशास्त्रप्रसिद्धास्ता एव मरालकुलानि तैराकुलितः, लघुगुरुप्लुतादिभेदा एव पुलिनानि तैरुज्ज्वलितः, आदिपदेनाऽणुद्रुतादीनां[3] सङ्ग्रहः । ज्ञानकर्मणी एव कूले तयोर्दलनेनोल्लसितः शोभितः, विविधेषु[4] वाद्येषु या गतयस्ता एव कुमुदिनीदलानि तैर्हरितः, लयेन संस्वरितः सतां श्रवणमेव सागरस्तत्र मिलित[5]-सीतारामचरितमेव चलिता[6] सरित्तद्रूपः । सरिद्रूपत्वेनाऽस्य रसमयत्वं व्यज्यते । अत्र रूपकालङ्कारेण वस्तुध्वनिः । विश्वनाथेत्यादिना साधनावस्थायामपि परमसुखदत्वमिति व्यज्यते । तेन च तव गानयोग्यतेति ।[7]

एषा माधुर्य्यधारा धरणितलगता विश्वनाथप्रचारा,
भास्वत्सन्तानतारापरिवृढविशदध्यानसन्धानसारा ।
पापौघोदञ्चदारा[8] भवजलधिसमुत्तारणे नौरुदारा,
शृङ्गारैकप्रसारा जयति परगुणग्राहकस्वान्तकारा ॥१॥

इति श्रीमन्महाराजकुमारविश्वनाथसिंहविरचिते संगीतरघुनंदने ग्रंथमाहात्म्यवर्णनपूर्वकप्रणामादिविधानं नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥[9] श्रीसीताराम राम राम ॥

एषेति । भास्वत्सन्तानतारा[10]-परिवृढस्य चन्द्रमसः श्रीरामचन्द्रस्य विशदध्यानस्य सन्धानमेव सारो यस्यां सा, यां काञ्चिदपि लीलां कुर्वन् श्रीरघुनन्दनो रासमेव ध्यायतीति भावः । पापौघस्य उदञ्चन्ती आरा, भवजलधेः समुत्तारणे उदारा नौः, परगुणग्राहकाणां स्वान्तस्य[11] मनसः कारा बन्धनगृहम् । एतेन रामरासरसिकाः इमं श्रुत्वा अन्यं न[12] स्मरिष्यन्तीति व्यज्यते । तेन च तेषामनन्यभक्तत्वमिति । शृङ्गारस्य एको मुख्यः प्रसारो

---

१. क. मूर्च्छंता । २. ख. सप्तस्वारावावार्त्तास्तैं । ३ ख. ०नाऽणुन्दुतादीनां ।
४. ख. विबुधेषु । ५. क. ख. पुस्तकद्वये 'मित' इति । ६. क. चलिलिता । ७. ख. पुस्तकेऽस्यां गद्यबन्धटीकायां सन्ति प्रथमाविभक्तिकैकवचनान्ताः सर्वेऽपि शब्दा ह्यविसर्गाः ।
८. ख. पापौघोदंच० । ९. ख. १६ सम्पूर्णम् शुभमस्तु मंगलं दद्यात् सम्वत् १९२६ माघ शुक्ल ८ कुज । १०. ख. भाश्वतसजानतारा० । ११. ख. स्यातस्य । १२. ख. ना ।

यस्यां सा, विश्वनाथाच्छिवात्कवेर्वा रघुनाथात्प्रचारो यस्याः सा । रघुनन्दन एवेमं ग्रन्थं विचार्य मन्मुखेन प्रकटितवानिति भावः । धरणितलगता एषा माधुर्य्यधारा जयति सर्वातिशयतया[1] वर्त्तते । ईदृशोऽन्येषु ग्रन्थेषु माधुर्यरसो[2] नाऽस्तीति भावः ।

रासप्रेमचमत्कारप्रमोदाय महात्मनाम्[3] ।
विन्ध्येशविश्वनाथेन[4] कृता व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिका ।।

इति सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराजश्रीमहाराजश्रीराजाबहादुर
रामचंद्रकृपापात्राधिकारि-[5]श्रीविश्वनाथसिंहदेवकृतायां
व्यंग्यार्थचद्रिकानाम्नि टीकायां षोडशः सर्गः ।।१६।।

दुती असाढ वदि ७ कह संवत् १८९१ के ।



१. क. सर्वातिशयतया । २. क. माधुर्यरासो । ३. क. क्वाहात्सताम् । ४. श. विंधेश० ।
५. श. सिद्धिः श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीरामचंद्रकृपापात्राधिकारि० ।

परिशिष्ट १

वाल्मीकि ने देवर्षि नारद से पूछा था[1]—"हे मुने ! इस समय इस संसार में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, उपकार मानने वाला, सत्यवक्ता और दृढप्रतिज्ञ कौन है ? सदाचार से युक्त, समस्त प्राणियों का हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली और एकमात्र प्रियदर्शन (सुन्दर पुरुष) कौन है ? मन पर अधिकार रखने वाला, क्रोध को जीतने वाला, कान्तिमान् और किसी की भी निन्दा नहीं करने वाला कौन है ? तथा संग्राम में कुपित होने पर किससे देवता भी डरते हैं ? महर्षे ! मैं यह सुनना चाहता हूँ; इसके लिए मुझे बड़ी उत्सुकता है; और आप ऐसे पुरुष को जानने में समर्थ हैं" ।

इसके उत्तर में नारद ने कहा—[2] "मुने ! आपने जिन बहुत से दुर्लभ गुणों का वर्णन किया है, उनसे युक्त पुरुष के विषय में विचार करके कहता हूँ । आप सुनें । इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न और राम-नाम से विख्यात एक पुरुष हुए हैं । एक वे ही मन को वश में रखने वाले, महाबलवान्, कान्तिमान्, धैर्यवान्, और जितेन्द्रिय हैं । वे बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, शोभायमान तथा शत्रुसंहारक हैं । उनके कन्धे मोटे और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं । ग्रीवा शंख के समान और ठोढ़ी मांसल (पुष्ट) है" ।

---

१. को न्वस्मिन् साम्प्रत लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रत: ।।२।।
चारित्रेण च को युक्त: सर्वभूतेषु को हित: ।
विद्वान् क: क: समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शन: ।।३।।
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयक: ।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ।।४।।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ।
महर्षे त्व समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम् ।।५।।

(वाल्मीकिरामायण—प्रथम सर्ग)

२. बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणा: ।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्त: श्रूयतां नर: ।।७।।
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनै: श्रुत: ।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी ।।८।।
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हण: ।
विपुलांसो महाबाहु: कम्बुग्रीवो महाहनु: ।।९।। (वाल्मीकिरामायण—प्रथम सर्ग)

[1]"उनका वक्षस्थल विशाल तथा धनुष बड़ा है, गले के नीचे की हड्डी (हसली) मांस से छिपी हुई है। वे शत्रुओं के दमनकर्त्ता हैं। उनकी भुजाएँ घुटने तक लम्बी हैं, मस्तक सुन्दर है, ललाट भव्य और चाल मनोहर है। उनका शरीर (अधिक ऊँचा या नाटा न होकर) मध्यम और सुडौल है, देह का रंग चिकना है। वे बड़े ही प्रतापी हैं। उनका वक्षस्थल भरा हुआ है, आँखें बड़ी बड़ी हैं। वे यशस्वी, ज्ञानी, पवित्र, जितेन्द्रिय और मन को एकाग्र रखने वाले हैं। प्रजापति के समान पालक, श्रीसम्पन्न, वैरिविध्वंसक और जीवों तथा धर्म के रक्षक हैं। स्वधर्म और स्वजनों के पालक, वेद-वेदांगो के तत्त्ववेत्ता तथा धनुर्वेद में प्रवीण हैं। वे अखिल शास्त्रों के तत्त्वज्ञ, स्मरणशक्ति से युक्त और प्रतिभासम्पन्न हैं। अच्छे विचार और उदार हृदय वाले वे श्रीरामचन्द्रजी बातचीत करने में चतुर तथा समस्त लोकों के प्रिय हैं।"

[2]"जैसे नदियाँ समुद्र से मिलती हैं, उसी प्रकार सदा राम से साधु पुरुष मिलते रहते हैं। वे आर्य एवं सबके प्रति समान भाव रखने वाले हैं, उनका दर्शन सदैव प्रिय मालूम होता है। सम्पूर्ण गुणों से युक्त ये रामचन्द्रजी अपनी माता कौशल्या के आनन्द बढ़ाने वाले हैं, गम्भीरता में समुद्र और धैर्य में हिमालय के समान हैं।"

---

१. महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥१०॥
समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ॥११॥
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥१२॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥१३॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥१४॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥१५॥

(वाल्मीकिरामायण—प्रथम सर्ग)

२. सर्वदाऽभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥१६॥
स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥१७॥

(वाल्मीकिरामायण—प्रथम सर्ग)

परिशिष्ट २

कृतियाँ:—

विश्वनाथसिंह के ग्रन्थों की निश्चित संख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकती । ज्ञात कृतियों का विवरण इस प्रकार है:—

१. रामगीता-टीका
२. तत्त्वमस्यर्थसिद्धान्तभाष्य
३. राधावल्लभी-भाष्य
४. सर्वसिद्धान्त
५. रामरहस्य टीका
६. राममंत्रार्थनिर्णय-टीका
७. सुमार्गस्तोत्रटीका
८. वीजकटीका
९. विनयपत्रिकाटीका
१०. वैष्णवसिद्धान्तटीका
११. धनुर्विद्या
१२. रामचन्द्रिकाह्निकतिलक
१३. रागसागराह्निक
१४. संगीतरघुनंदन
१५. भुक्ति मुक्तिसदानन्दसंदोह
१६. दीक्षानिर्णय
१७. व्यंग्यार्थचन्द्रिका
१८. भागवत-एकादशस्कन्धटीका
१९. सुमार्ग की ज्योत्स्नाटीका
२०. रामपरत्व
२१. व्यंग्यप्रकाश
२२. विश्वनाथप्रकाश
२३. आह्निक अष्टयाम
२४. धर्मशास्त्रत्रिशतश्लोकी
२५. परधर्मनिर्णय
२६. शान्तिशतक
२७. विश्वनाथचरित
२८. ध्रुवाष्टक सतिलक
२९. मृगयाशतक
३०. परमतत्त्व
३१ उत्तमकाव्यप्रकाश
३२. गीतारघुनंदनशतिका
३३. आनन्दरामायण
३४. गीतारघुनंदन प्रामाणिक
३५. सर्वसंग्रह
३६. रामचन्द्र जू की सवारी
३७. भजनमाला
३८. आनन्दरघुनन्दन-नाटक
३९. रागसागराह्निक
४०. वेदान्तपंचशतिका
४१. उत्तमनीतिचन्द्रिका
४२. अबाधनीति
४३. ध्यानमंजरी
४४. चौरासी रमैनी
४५. कहरा
४६. शब्द
४७. आदिमंगल
४८. साखी
४९. बसन्त-चौंतीसो
५०. पाखण्डखण्डिनी

उपर्युक्त रचनाओं की विपुल संख्या में यह भी संभव है कि इनमें से कुछ रचनाएँ अन्य दरबारी कवियों से सम्बद्ध हों । इन कृतियों के अतिरिक्त महाराज विश्वनाथसिंह के नाम से निम्नलिखित रचनाएँ भी राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान को उदयपुर शाखा में है ग्रन्थाङ्क पूर्व प्रकाशित सूचीपत्र के दिए गए हैं ।

१. ११६/१६४० अयोध्यामाहात्म्य—(कुल पत्र—८)
२. ३२३/२१४४ अयोध्याजी के भजन—(कुल ७३ भजन)
३. ३२४/२१४५ शृंगार के कवित्त (कुल ५० पद—१० पत्र)
४. २७८/२०९९ शिकार के कवित्त (१० पत्र)
५. ३२२/२१४३ वीरविजय (धनुर्वेद) (१६ पत्र)
६. ३२६/२१४७ विनैमाल-रचनाकाल-१८७९ वि०
७. २७९/२१०० राजनीति के पद (अपूर्ण) (१७ पत्र)
८. ११४/१९३५ गीतावली (८८ पत्र)
२८०/२१०१ हनुमानजी के कवित्त (रचनाकाल १८८६ वि०)



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	उपल	उपलं
२	६	वदुदाहरणानि	तदुदाहरणानि
४	१६	प्रकीतिता	प्रकीर्तिता
४	१६	स्वादाकारश्च	स्यादाकारश्च
५	६	प्राशस्त्यार्थे	प्राशस्त्यर्थे
८	१६	गीविन्द	गोविन्द
११	३	ससारसागरे	संसारसागरे
११	२१	यतोऽपकत्तु	यतोऽपकर्त्तुं
१४	१८	अधगण	अघगण
१६	१५	परमहस	परमहंस
१७	१५	मह्यपपि	मह्यमपि
२१	२२	नाशनेर्त्थः	नाशनेत्यर्थः
३३	५	कुमकमा	कुमकुमा
३३	८	श्रुतो	श्रुती
४५	५	अश्रित	आश्रित
५६	६	कथंत व	कथं तव
५६	७	क्तिरिति	उक्तिरिति
६०	३	स्वोय	स्वीय
६२	५	सद्धिर्भविप्य	सिद्धिर्भविष्य
६३	१५	ललितान्तस्कामद	ललितान्तरकामद
६७	१६	धिकमिति	मधिकमिति
७०	१४	व्यञ्जितत्रती	व्यञ्जितवती
८१	१४	बैकुण्ठे	वैकुण्ठे
८५	७	वचनामतेन	वचनामृतेन
८५	१६	केलिक्ला	केलिकला
८६	१६	पश्यम	पश्यन्न
८७	१	षण्णत्य	षण्णवत्य
८७	१६	सुखिताशम्	सुखिताक्षम्
१००	१२	नवोनघनेन	नवीनघनेन
११०	२१	सुखं	मुखं
११६	१६	तद्विहार	तद्विहार
११६	२२	सिंहानस्य	सिंहासनस्य

पाठक अनुस्वार की अशुद्धियों को स्वप्रज्ञा से यथास्थान सुधार लेवें।